न्द-ग्रन्थ-संग्रह

चतुर्थ प्रसून

मधुर-प्रकाशन, दिल्ली-६

ओ३म्

दर्शनानन्द ग्रंथ संग्रह

(चतुर्थ प्रसून)

स्वर्गीय स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

प्रकाशक

मधुर-प्रकाशन
आर्य समाज मन्दिर,
बाजार सीताराम, दिल्ली-६

प्रथम संस्करण] शिवरात्रि १९७२ [मूल्य २) रुपये

विषय-सूची

यह ग्रंथमाला

तार्किक शिरोमणि श्री स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती आर्य समाज के उन सैद्धान्तिक मनीषियों में थे, जिनके कारण वैदिक धर्म की पुण्य पताका अखिल देश में आज तक फहरा रही है। जिन दिनों उनका आविर्भाव हुआ था तब सारे देश में पाखण्डों और कुरीतियों का भयंकर प्रचार था। स्वामी जी ने निर्भीक भाव से समाज में फैली हुई उन सब कुरीतियों पर अपनी प्रखर वाग्मिता और लोह-लेखनी से ऐसा प्रहार किया कि उनसे उनके विरोधियों के छक्के छूट गए। यहाँ तक कि उन्होंने अपनी निर्भीक तथा ओजस्वी वाणी से विरोधी विद्वानों को अनेक शास्त्रार्थों में निरुत्तर कर दिया और विजयश्री अपने ही हाथों में रखी।

महर्षि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदर्शित पथ का अनुसरण करके उन्होंने देश के विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण किया और सभी स्थानों पर पावन वैदिक धर्म के सार्वभौम सन्देश को प्रसारित करने में ही अपने जीवन को होम दिया। अनेक वर्षों तक काशी-वास करके उन्होंने वहाँ पर आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार करने की दृष्टि से एक प्रेस भी स्थापित किया और उसके द्वारा अनेक ऐसे ट्रैक्ट तथा ग्रंथ प्रकाशित किये, जिनमें वेदोक्त सभी सिद्धान्तों का तर्कपूर्ण प्रतिपादन किया गया था।

हर्ष का विषय है कि मधुर प्रकाशन दिल्ली के उत्साही संचालक श्री राजपालसिंह शास्त्री ने स्वामी जी के उस सभी साहित्य को 'दर्शनानन्द ग्रंथ संग्रह' नाम से प्रकाशित करने की पावन योजना बनाई है और अब तक इसके तीन भाग प्रकाशित भी हो चुके हैं। इन सभी भागों पर दृष्टिपात करके यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि यदि स्वामी जी का यह जीवन्त साहित्य आर्यसमाज को समय पर न प्राप्त होता तो कदाचित् 'सैद्धान्तिक खण्डन-मण्डन' की दिशा में वैसा कार्य न हो पाता, जिसके कारण आर्य समाज को अतीत काल में अनेक 'शास्त्रार्थ महारथी' उपलब्ध न होते।

आज आर्यसमाज धड़ेबाजी और गुटबन्दी का शिकार हो रहा है, ऐसे विकट समय में स्वामी जी के ग्रन्थों का एक समसूची 'ग्रंथमाला' के रूप में

प्रकाशन करके 'मधुर प्रकाशन' ने निश्चय ही एक 'प्रशंसनीय' और 'साहिसिक' अभियान किया है। काश! आर्यसमाज के धर्मधुरीण ध्वजाधारी नेता दलबन्दी की दलदल से ऊपर उठकर फिर स्वामी जी के इन ग्रंथों से प्रेरणा प्राप्त करके देश के साँस्कृतिक उत्थान में वह उल्लेखनीय योददान दें जिसकी सम्पूर्ति के लिए महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने जीवन में अनवरत संघर्ष किया था।

राजनीतिक घटाटोप और नास्तिकता के इस भयावह वातावरण में यह 'ग्रन्थमाला' निश्चय ही जीवन, आशा तथा आस्था का वह अमर आलोक फैलायगी, जिसके प्रकाश में भारत ही नहीं, अपितु अखिल विश्व आध्यात्मिकता का पावन संदेश प्राप्त करेगा, ऐसा हमारा अमिट विश्वास है। भगवान् करे हमारी यह धारणा फलीभूत हो और हम फिर यह कहने का सौभाग्य प्राप्त कर सकें—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

—क्षेमचन्द्र 'सुमन'

मुक्ति और पुनरावृत्ति

ऋषि दयानन्द का निज अन्वेषण

संप्रति साम्प्रदायिक धार्मिक संसार में इस विषय पर विचार हो रहा है कि मुक्ति से जीवात्मा पुनः बन्धन में आता है या नहीं ? संसार के सब धार्मिक सम्प्रदाय जो मुक्ति का अस्तित्व मानते हैं वे जीवात्मा की मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं मानते, आर्यसमाज जो कि प्रत्येक विषय को विद्या और बुद्धि की कसौटी से जाँच करता है वह मुक्ति से जीवात्मा की पुनरावृत्ति मानता है, इसलिए विचारना यह है कि जीव मुक्ति से लौटकर बन्धन में आता है या नहीं ? जब मुक्ति के विषय में विचार करते हैं तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि मुक्ति जीव का स्वाभाविक गुण है या नैमित्तिक (अर्थात् उत्पन्न होने वाला) है, यदि मुक्ति को जीव का स्वाभाविक गुण माना जावे तो मुक्ति के साधान जो शास्त्रों में कहे हैं सब व्यर्थ हो जायेंगे, और प्रत्येक जीव सदा मुक्त ही होगा किन्तु जीव सदा मुक्त देखने में नहीं आता किन्तु उसे मुक्ति की इच्छा है। इच्छा उस वस्तु की होती है जो लाभकारी हो और प्राप्त न हो। यदि मुक्ति जीवात्मा का स्वाभाविक गुण हो तो उसकी इच्छा हो ही नहीं सकती, क्योंकि स्वाभाविक गुण प्रत्येक द्रव्य का उसके साथ रहता है और जो वस्तु हर समय पास हो उसकी इच्छा कैसी ? परन्तु जब मुक्ति शब्द के शब्दार्थ का विचार करते हैं तो यह आपत्ति दूर हो जाती है। क्योंकि मुक्ति का अर्थ छूटना है जिससे स्पष्ट ज्ञान होता है कि जीवात्मा बंधा हुआ है और बन्धन से छूटना ही मुक्ति है। अब यह प्रश्न उठता है कि बन्धन जीव का निज (स्वाभाविक) गुण है या नैमित्तिक ? यदि बन्धन जीवात्मा का निज गुण है तो उससे छूटना असम्भव है क्योंकि किसी वस्तु का स्वाभाविक निज गुण गुणी से पृथक् नहीं हो सकता। कपिल मुनि कहते हैं:—

न स्वभावतो बद्धस्य मोक्ष साधनोपदेशविधिः ॥

अर्थ—यदि बन्धन जीवात्मा का स्वाभाविक गुण होता तो उससे छूटने का उपदेश वेदों में कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वेदों में मुक्ति का उपदेश किया है। इससे प्रकट हैं कि बन्धन जीवात्मा का नैमित्तिक गुण है। इस पर कपिल मुनि युक्ति भी देते हैं :—

स्वभावस्यानपायित्वादनुष्ठान लक्षणप्रामाण्यम् ॥

स्वाभाविक नाश से रहित होने से उसके दूर करने के लिए जो प्रयत्न होगा वह प्रमाण नहीं होगा क्योंकि असम्भव के लिये प्रयत्न का उपदेश करना ठीक नहीं हो सकता। इससे ज्ञात होता है कि बन्धन भी नैमित्तक गुण है निदान जब मुक्ति नैमित्तिक है तो नैमित्तिक कभी नित्य नहीं हो सकता जिससे मुक्ति का नित्य होना सम्भव नहीं हो सकता।

मुक्ति से पूर्व बन्धन होना आवश्यक है तभी मुक्ति मुक्ति कहला सकती है। यदि बंधा हुआ न हो तो छूटेगा किससे, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जो बँधा हुआ है वही छूटता है। क्योंकि बन्धन भी उत्पन्न होता है। स्वाभाविक गुण नहीं इससे सिद्ध है कि जो छूटा हुआ हो वही बंधता है। सारांश बन्धन से पूर्व मुक्ति का होना आवश्यक है और मुक्ति से पूर्व बन्धन का होना आवश्यक है अतः जीवात्मा स्वभाव से न बंधा हुआ है न मुक्त है—

बन्धन के सम्बन्ध में मुनि कहते हैं—

यद्यात्मा मलिनोऽस्वच्छो विकारी स्यात् स्वभावतः।
नहि तस्य भवेत् मुक्तिः जन्मान्तरशतैरपि ॥

अर्थ—यदि जीव स्वभाव से बंधा हुआ और मलीन होता तो उसकी मुक्ति सैकड़ों जन्मों में भी नहीं हो सकती क्योंकि स्वभाव नाश से रहित होता है। अब विचार का स्थान है कि मुक्ति का स्वरूप क्या है? तो बतलाया जाता है कि अत्यन्त दुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति ही मुक्ति का स्वरूप है। निवृत्ति उसकी होती है, जो स्वाभाविक गुण नहीं, किन्तु नैमित्तिक हो। स्वाभाविक की निवृत्ति हो नहीं सकती और प्राप्त भी उसे करते हैं जो अप्राप्त हो क्योंकि जो स्वाभाविक गुण है उसके साथ रहने से उसकी
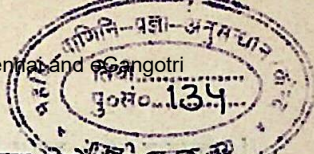
प्राप्ति कुछ अर्थ नहीं रखती। निदान दु:ख और आनन्द दोनों जीवात्मा के गुण मालूम नहीं होते, परन्तु वहुत से नवीन वेदान्ती लोग कहते हैं कि आनन्द जीवात्मा का स्वाभाविक गुण है। परन्तु अविद्या का आवरण आ जाने से प्रतीत नहीं होता। इस आवरण को दूर करने का नाम परमानन्द की प्राप्ति है। किन्तु यह विचार ठीक नहीं, क्योंकि गुण का गुणी में आवरण नहीं आया करता। किन्तु आवरण दो द्रव्यों के मध्य में आता है, सूर्य और उसकी प्रभा के मध्य आवरण नहीं आता। किन्तु हमारे चक्षु और सूर्य के मध्य में आवरण आता है क्योंकि आवरण के बीच में रहने के लिए आकाश चाहिए। परन्तु गुण और गुणी के बीच में कोई आकाश नहीं, क्योंकि उनमें संयोग सम्वन्ध नहीं। जहाँ आकाश का अवकाश हो, किन्तु समवाय सम्वन्ध है। इसलिए जीवात्मा और आनन्द के मध्य में अविद्या का आवरण वतलाना मूर्खता है निदान जो लोग जीव आत्मा का स्वरूप आनन्द मानते हैं, यह सरासर भूल है। महर्षि व्यास वेदान्त दर्शन में कहते हैं—

नेतरोपपत्तेः आनन्दमयो ऽभ्यासात्। वे० सू०

अर्थ—ब्रह्म से इतर नाम दूसरा जो जीवात्मा है, वह आनन्द स्वरूप सिद्ध नहीं होता, किन्तु उसको अभ्यास से आनन्द प्राप्त होता है। ब्रह्म के लक्षण से भी सिद्ध होता है कि जीव आनन्द स्वरूप नहीं। ब्रह्म का लक्षण वतलाते हैं सच्चिदानन्द। लक्षण दूसरों से पृथक् करने वाला होता है। पहिले कहा ब्रह्म सत् है। यदि जीव और प्रकृति असत् होते तो ब्रह्म का लक्षण सत् पूरा हो जाता, परन्तु ब्रह्म को परमात्मा भी कहते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि वह व्यापक है। प्रत्येक व्यापक के लिए व्याप्य की आवश्यकता है, विना व्याप्य के व्यापक कहला ही नहीं सकता। इसलिए परमात्मा के लिए व्याप्य की आवश्यकता है। यदि व्याप्य अनित्य हो तो व्यापक भी अनित्य कहलायेगा। इसलिए परमात्मा का व्याप्य प्रकृति भी सत् ही है, इसीलिए लक्षण अति व्याप्ति हो गया अर्थात् प्रकृति में चला गया। दूसरे ब्रह्म न्यायकारी या कर्म-फलदाता है, परन्तु जब तक कर्म करने वाला न होगा न्यायकारी नहीं कहला सकता। ब्रह्म के सब गुण सत् हैं इसलिए उस की प्रजा

जिनका वह न्याय करता है वह सत होगी। इसलिए ब्रह्म का सत् लक्षण जीव और प्रकृति में अति व्याप्त हो गया। तब कहना पड़ा ब्रह्म सच्चित् है। इस लक्षण से प्रकृति जो अचेतन है वह तो अलग हो गई परन्तु जीवात्मा में यह लक्षण अति व्याप्त रहा क्योंकि जीव भी सत् चित् और ब्रह्म सत् चित् तब कहना पड़ा ब्रह्म सच्चिदानन्द है। इसलिए प्रकृति सत्, जीव सत् चित् ब्रह्म सच्चिदानन्द है। सारांश जीव को दु:ख की प्राप्ति बन्धन और आनन्द की प्राप्ति अर्थात् दु:ख की निवृत्ति मोक्ष है। अब बन्धन क्या है दु:ख क्या वस्तु है और किस प्रकार प्राप्त होता है? दुख का लक्षण गौतम जी न्याय दर्शन में करते हैं।

बाधनालक्षणं दु:खम्

अर्थ—परतंत्रता ही दुख है, सिवाय परतंत्रता के कोई अन्य वस्तु दु:ख नहीं है। जीव में यह परतन्त्रता(आज्ञादि का न होना)स्वाभाविक गुण नहीं परन्तु संग से आता है जैसे वायु स्वयं न शीतल है न उष्ण किन्तु जल के संसर्ग से वायु में शीतलता और अग्नि के संसर्ग से उष्णता आती है, इसी प्रकार जीवात्मा स्वभाव से न तो दु:खी है न आनन्दमय। प्रकृति के संसर्ग से जो उसमें परतन्त्रता अर्थात् दु:ख आता है और परमात्मा के संसर्ग से आनन्द और स्वतन्त्रता आती है। निदान जीव आत्मा का प्रकृति से सम्बन्ध ही बन्धन है। क्योंकि इस बन्धन का कारण भी शास्त्रकारों ने बतलाया है जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि बन्धन स्वाभाविक गुण नहीं। कपिल जी बतलाते हैं—

बन्धो विपर्य्ययात्

अर्थ—विपरीत ज्ञान अर्थात् अविद्या से जीवात्मा में बन्धन आता है। वह उलटा ज्ञान न तो सर्वज्ञ में हो सकता है न ही अल्पज्ञ में है। इसलिए अविद्या ब्रह्म को नहीं हो सकती है, क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप है, और न ही प्रकृति को हो सकती है क्योंकि वह ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति ही नहीं रखती। इस कारण अविद्या जीवात्मा को ही होती है क्योंकि वह अल्पज्ञ है।

अविद्या के अर्थं और वस्तु का जानना है। रस्सी को सांप न तो सूर्य के प्रकाश में जान सकते हैं, क्योंकि उस समय स्पष्ट रस्सी दिखाई देती है और न ही नितान्त अंधेरे में क्योंकि उस समय कुछ दिखाई ही नहीं देता किन्तु कुछ प्रकाश और कुछ अन्धेरा हो तब ही रस्सी में सांप का भ्रम होता है इस कारण अविद्या न तो ब्रह्म को हो सकती है क्योंकि वह सर्वज्ञ, और ज्ञान स्वरूप है। जो लोग सूर्य में अन्धकार बतलावें उनसे बढ़कर बुद्धि का शत्रु कौन होगा, क्योंकि यदि सूर्य में ही अन्धेरा हो जावे तो दूर करने वाला कौन आवे इसलिए जो लोग ब्रह्म में अविद्या मिलाते हैं, उनसे बढ़ कर बुद्धि का शत्रु कोई नहीं। अविद्या केवल अल्पज्ञ जीवात्मा को ही होती है। ब्रह्म मुक्तस्वरूप है प्रकृति बन्धनस्वरूप है। जीव आत्मा न मुक्त है न बद्ध। जब प्रकृति का संग करता है, तब बन्धन में आ जाता है। जब ब्रह्म की ओर लगता है तब मुक्त हो जाता है। यहाँ पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब कि प्रकृति सब जगह वर्तमान है इसलिए जीव का संग अवश्य होगा और ब्रह्म सर्वव्यापक है उससे भी जीव अलग नहीं जा सकता इसलिए बन्धन और मुक्ति व्यवस्था कैसे हो सकती है क्योंकि दोनों का हर समय संग बना हुआ है ? परन्तु इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्थूल पदार्थ में सूक्ष्म पदार्थ रह सकता है। परन्तु सूक्ष्म के भीतर स्थूल नहीं रह सकता जैसे पानी के भीतर अग्नि प्रविष्ट होकर पानी को उष्ण कर सकती है, परन्तु अग्नि के भीतर पानी प्रविष्ट होकर अग्नि को शीतल नहीं कर सकता क्योंकि प्रकृति जीव आत्मा से स्थूल है इस हेतु जीव के भीतर प्रकृति नहीं रह सकती। परन्तु ब्रह्म जीव आत्मा से सूक्ष्म है वह जीव के भीतर रह सकता है। सारांश प्रकृति जीव के बाहर और ब्रह्म भीतर है। लोग प्रश्न करते हैं कि क्या ब्रह्म जीव के बाहर नहीं ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ब्रह्म जीव के बाहर भी है परन्तु बाहर प्रकृति में व्यापक होने से उसका यथार्थ नहीं होता, परन्तु भीतरी और अकेला होने से उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, परन्तु भीतरी और अकेला होने से उसका यथार्थ ज्ञान हो सकता है इसीलिए उपनिषद् बतलाता है :—

हिरण्मये परे कोषे विरजो ब्रह्म निष्कलम् ।
तत् शुभ्रम् ज्योतिष्मद् यदात्मविदो विदुः ।।

अर्थ—इस शरीर में पाँच कोष हैं, एक अन्नमय कोष, दूसरा प्राणमय कोष, तीसरा मनोमय कोष, चौथा विज्ञानमय कोष, पाँचवां आनन्दमय कोष है। आनन्दमय कोष के भीतर रज अर्थात् प्रकृति से रहित ब्रह्म विद्यमान है । वह शुद्ध सम्पूर्ण प्रकाशों का भी प्रकाशक है । उसको वही जन जानते हैं जो जीवात्मा को जानते हैं । निदान जब जीव अपने भीतर देखता है तब तो ब्रह्म की ओर लगता है जब प्रकृति से सम्बन्ध करता है तब बन्धन होता है ।

जब यह बोध हो गया कि मुक्ति जीवात्मा का स्वाभाविक (निज) गुण नहीं, तो मुक्ति किस प्रकार नित्य हो सकती है । क्योंकि जो वस्तु साधनों से उत्पन्न होती है उसका आरम्भ तो होता ही है और जिसका आरम्भ हुआ उसका अन्त और जिसका अन्त हो उसका आदि होना भी आवश्यक है क्योंकि एक किनारे वाली नदी और एक सीमा की वस्तु दुनियाँ में हैं ही नहीं । ऐसी मुक्ति जिसका आरम्भ हो और अन्त न हो असम्भव है क्योंकि अनित्य का नित्य होना असम्भव है । नित्य वह है जिसका आदि और अन्त दोनों न हों और अनित्य वह है जिसका आदि और अन्त दोनों हैं परन्तु जिसका आदि हो और अन्त न हो ऐसी सब वस्तुयें असम्भव हैं । इसीलिए गौड़पदाचार्य कारिका में कहते हैं—

बौद्ध-जैनकाल और शंका-समाधान

अनादेरन्तवत्त्वञ्च संसारस्य न सेत्स्यति ।
अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य त भविष्यति ।।३६।।

अर्थ—जो लोग संसार अर्थात् बन्धन को अनादि मानते हैं उनके बन्धन का अन्त नहीं हो सकता, क्योंकि जिसका आदि न हो उसका अन्त नहीं इसलिए बन्धन को उत्पत्तिमान् अर्थात् अनित्य मान कर ही मुक्ति हो सकती है और जो मोक्ष आदि वाली है वह अनन्त नहीं हो सकती । गौड़पाद के समय में बौद्ध और जैन लोग जो संसार को अनादि मानते थे परन्तु उसके बन्धन से छुटना भी स्वीकार करते थे दूसरे मुक्ति को आदि मान कर उसको अनन्त

बतलाते थे। क्योंकि ये दोनों बातें बुद्धि और विद्या के विरुद्ध थीं, इसीलिए गौड़पादाचार्य ने ऐसे बन्धन और मुक्ति दोनों को वास्तविकता के विरुद्ध कहा है। परन्तु जो लोग बन्धन और मुक्ति को उत्पत्तिमान् और नाशवान् मानते हैं उन्हीं का मत सत्य हो सकता है, इसलिए मुक्ति को अनित्य मानना ही बुद्धि के अनुकूल है, ऐसी अवस्था में प्रतिवादी कहता है कि तुम मुक्ति को अनित्य किस प्रकार कह सकते हो जबकि दुःखों का अत्यन्ताभाव मुक्ति मानी जाती है। जिसका अत्यन्ताभाव हो जावे वह किसी प्रकार उत्पन्न नहीं हो सकता जब हम प्रतिवादी से पूछते हैं कि दुःख का अत्यन्ताभाव मुक्ति में कहाँ से कहाँ है तो वह यह सांख्यसूत्र बोल उठता है :—

अथ त्रिविध दुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥

अर्थ—तीन प्रकार के दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति (छुटकारा) हो जानी मुक्ति है। ऐसे अवसरों पर लोग भूल से निवृत्ति का अर्थ अभाव ग्रहण करते हैं। अत्यन्ताभाव का अर्थ है जो तीन काल में न हो, परन्तु अत्यन्त निवृत्ति का अर्थ है जो होकर न रहे निदान जीव का प्रकृति से नितान्त सम्बन्ध न रहने का नाम अत्यन्त निवृत्ति है। यद्यपि जीव का सुषुप्ति में भी प्रकृति से सम्बन्ध नहीं होता है परन्तु उस समय प्रारब्ध जो प्रकृति के साथ सम्बन्ध करने वाली है, विद्यमान होती है। मुक्ति उस दशा का नाम है जब कर्मरूपी बीज के साथ दुःख दूर हो जावे जैसे कहा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

अर्थ—जब जीवात्मा परमात्मा के दर्शन करता है तब उसके मन की गांठ खुल जाती है अर्थात् जो उसका सांसारिक वस्तुओं में अहंकार था वह नष्ट हो जाता है। जब मन में अहंकार न रहा तब संशय भी दूर हो जाते हैं क्योंकि संशय का आधार मन और अहकार ही है, और जब मन न रहा तब सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि कर्मों के सस्कार मन ही में रहते हैं, सारांश मन जो दुःख का बीज है, जब उसके साथ दुःख नाश होते है उसी को मुक्ति कहते हैं। ऐसा ही न्याय का सूत्र कहता है—"तदत्यन्तविमोक्षाऽपवर्गः।" अर्थात् दुःख से छूट जाना मुक्ति है।

इन सूत्रों से दुःख के अत्यन्ताभाव से मुक्ति की सिद्धि नहीं होती किन्तु दुःख की बीज सहित पृथक्ता सिद्ध होती है।

बहुत लोग यहाँ पर यह प्रश्न करेंगे कि तुमने मुक्ति में मन का नाश माना है परन्तु बादरायण जो व्यासजी के पिता हैं वह मुक्ति में मन का अभाव मानते हैं, "अभावं बादरिराह"। किन्तु जैमिनि आचार्य मुक्ति में मन का भाव मानते हैं और व्यास जी तो अभाव और भाव दोनों ही मानते हैं इसका क्या कारण है किन्तु इस विरोध के होने पर भी तुम केवल अभाव मानते हो जब कि ऋषियों में परस्पर विरोध है तो इसको यथार्थ किस प्रकार माना जा सकता है ? विदित रहे कि मन दो प्रकार का माना गया है एक नित्य दूसरा अनित्य। जिस ऋषि ने नित्य मन को लेकर विचार किया है उसको भाव मानना पड़ा और जिसने अनित्य मन का विचार किया उसने मुक्ति में मन का अभाव माना। महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन में मन को नित्य कहा है।

तस्य द्रव्यत्वं नित्यत्वं च वायुना व्याख्याते।

अर्थ—उसका अर्थात् मन का द्रव्य होना और नित्य होना वायु के समान वायु व्याख्यान किया गया है। जिस प्रकार वायु द्रव्य और नित्य है, इसी प्रकार मन भी नित्य है। दूसरी ओर महर्षि कपिल जी सांख्यदर्शन में मन को प्रकृति का विकार बता कर अनित्य बताते हैं। देखो सांख्यदर्शन अध्याय १ सूत्र ७१।

महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः।

अर्थ—महत्नामी प्रकृति का पहिला कार्य है उसके अनित्य होने में क्या संशय हो सकता है। इस पर विचार करते हुए एक ओर से ध्वनि उठती है, क्योंकि वेद मन्त्र में मन को अमृत बताया है इससे मन को नित्य ही मानना यथार्थ है दूसरी ओर से ध्वनि उठती है उसका यह अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि छान्दोग्योपनिषद् में मन की उत्पत्ति इनसे मानी गई है—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठं तन्मनः।

अर्थ—जो अन्न खाया जाता है वह तीन प्रकार का हो जाता है उसका जो सबसे स्थूल भाग है वह मल होकर निकल जाता है, जो मध्यम [सामान्य]

भाग है वह मांस बनता है जो सबसे सूक्ष्म होता है वह मन बन जाता है इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि मन अनित्य है। मूर्ख लोग जो मन की वास्तविकता को नहीं जानते वे ऐसे अवसरों पर समझते हैं कि "शास्त्र में विरोध है इसलिए कोई शास्त्र प्रमाण नहीं हो सकता। ऋषि भी परस्पर विरुद्ध सम्मति रखते हैं और इसलिए उनकी बात का सत्य होना आवश्यक नहीं है।" परन्तु ये सब विचार अनभिज्ञता के कारण से हैं शास्त्रों की एक विषय में एक ही सम्मति है परन्तु जहाँ विषय ही दो हों वहाँ दो मत होना आवश्यक है। मन दो हैं एक मनन शक्ति जो कि जीवात्मा का स्वाभाविक गुण है दूसरा मन करण है जो कि जीव के बाहरी इन्द्रियों से कार्य लेने का साधन है। क्योंकि जीवात्मा नित्य है इसलिए मनन शक्ति जो जीवात्मा का गुण है वह भी अनित्य है। दूसरा मन करण, अन्न से या प्रकृति से बनता है इसलिए वह नित्य है। व्यास जी के पिता बादरि ने मन जो बाह्यज्ञान का साधन है उसका विचार किया उसका मुक्ति में अभाव बतलाया क्योंकि मुक्ति में कोई अनित्य द्रव्य साथ नहीं रह सकता।

ऋषियों का ऐक्य

जैमिनि जी ने मनन शक्ति का विचार किया, उन्होंने मुक्ति में इसका होना आवश्यक समझा क्योंकि मनन शक्ति जीवात्मा की नित्य है। वह जीव से पृथक् हो ही नहीं सकती। व्यासजी ने दोनों का निर्णय कर दिया है कि मन करण का तो मुक्ति में अभाव होता और मनन शक्ति का भाव होता है। कणादजी ने उपचार से मनन शक्ति विशिष्ट आत्मा को वैशेषिक में मन से द्रव्य माना और नित्य बतलाया। कपिल ने मन करण को प्रकृति कार्य बतलाया और वेद मंत्रों में नित्य मनन शक्ति को अमृत की उपाधि दी और छान्दोग्योपनिषद् में बाह्यज्ञान के साधन मन को अन्न से उत्पन्न होने वाला बतलाया है। क्योंकि विषय दो थे इन हेतुओं से ऋषियों के वाक्यों में न तो विरोध है और न एक विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं! जो लोग दर्शनों में विरोध बतलाते हैं उनकी अज्ञानता है। उदाहरण यह है एक पुरुष कहता है शरीर अनित्य है, दूसरा पुरुष जिसने जीवात्मा को परमात्मा का शरीर इस

श्रुति से विचार किया है 'यस्यात्मा शरीरम्' वह कहता है शरीर नित्य है। स्थूल शरीर को लक्ष्य बना कर एक पुरुष कहता है शरीर अनित्य है दूसरा कारण को लक्ष्य में रखता है तो शरीर नित्य है क्या इनमें विरोध है? कदापि नहीं।

प्रतिवादी की महती शंका

जब यह मालूम हो गया कि मुक्ति, मन सहित दुःख के नाश का नाम है और यह अनित्य है तो उसकी उत्पत्ति और नाश दोनों आवश्यक होते हैं। मुक्त जीव दुबारा बन्धन में आ सकता है। क्योंकि बन्धन के नैमित्तिक होने से यह तो स्पष्ट प्रकट है कि बन्धन अनित्य है जिससे स्पष्ट विदित होता है कि बन्धन से पहले मुक्ति थी परन्तु अब मुक्त होकर बन्धन में आ गया या नहीं यही विचार करना है इसी का नाम मुक्ति से पुनरावृत्ति अर्थात् लौटना है। इस पर प्रतिवादी पुरुष कहते हैं कि मुक्ति से नहीं लौटता। वे अपनी बात को सिद्ध करने के लिए यह प्रमाण देते हैं :—

न मुक्तस्य पुनर्वन्धयोगोऽनावृत्तिश्रुतेः। सांख्य॥

अर्थ—मुक्त पुरुष का दुबारा बन्धन के साथ सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि श्रुति अर्थात् उपनिषदों से सिद्ध होता है कि मुक्त जीव की पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात् पुनरागमन नहीं होता है। परन्तु विदित होता है कि कपिल जी मुक्ति से पुनरागमन के विरुद्ध नहीं हैं किन्तु श्रुति के अनुसार जिस प्रकार का न लौटना श्रुति ने माना होगा वही कपिल जी को इष्ट है। अर्थात पुनरावृत्ति वादी इसमें कोई युक्ति नहीं देते। केवल श्रुति का प्रमाण प्रकट करते हैं, वेदान्त दर्शन में व्यास जी भी कहते हैं —

अनावृत्तिशब्दादनावृत्तिशब्दात्।

अर्थ—शब्द अर्थात् श्रुति से यह सिद्ध होता है, कि मुक्त जीव बन्धन से अलग रहता है उसको दुबारा लौटना नहीं होता। व्यास जी अपनी कोई सम्मति प्रकट नहीं करते हैं न कोई युक्ति देते हैं, केवल श्रुतिप्रमाण से कहते हैं। इसलिए कपिल और व्यास जी का मुक्ति से न लौटने के विषय में वही मत होगा जो कि श्रुति का है, श्रुति के अतिरिक्त इनकी कोई सम्मति नहीं, निदान

जब मुक्ति का अभिप्राय स्पष्ट विदित होगा तो ये सूत्र आप ही स्पष्ट हो जावेंगे। गीता में भी महात्मा कृष्ण जी कहते हैं :—

वादी का दृढ़ समाधान

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

अर्थ—जहाँ पर पहुँचकर फिर नहीं लौटते वह मेरा धाम है। परन्तु प्रसिद्ध बात है कि गीता उपनिषदों से ली गई है इसलिए गीता का भी वही तात्पर्य समझना चाहिए जो उपनिषदों का है। प्रयोजन यह कि सारे प्रश्न का मर्म उपनिषद् के भीतर है। जब हम सांख्य दर्शन के भाष्य और वेदान्त के सूत्र के भाष्य को देखते हैं तो हमें दोनों स्थानों पर उपनिषद् की एक ही श्रुति मिलती है जिससे स्पष्ट विदित हो जाता है कि जितने आचार्यों ने मुक्ति से पुनरावृत्ति का निषेध किया है उन सबके मस्तिष्क में यही श्रुति ध्वनित हो रही है, और वह यह है :—

न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते। छां०

अर्थ—वह ब्रह्मलोक को प्राप्त हुआ जीव नहीं लौटता। परन्तु जब छान्दोग्योपनिषद् को देखते हैं तो हमें इतनी ही श्रुति नहीं मिलती, किन्तु सम्पूर्ण पाठ करने से इसका मतलब और निकलता है इसलिये हम यहाँ सारा खण्ड लिखते हैं।

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच। प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः आचार्य-कुलाद्वेदमधीत्य यथाविध्यनुगुरो : कर्मातिशेषेणाभि समावृत्य कुटुम्बे शुचौ देश स्वाध्यायमधीयानो धार्मिको चिदक्षरात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्व-भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभि सम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते॥ छां० उ०॥

अर्थ—यह जो आत्मज्ञान है सो उपकरण अर्थात् साधन के साथ 'ओ३म्' इस अक्षर से लेकर उपासना के साथ उसके बतलाने वाला आठ अध्याय वाला जो छान्दोग्य पुस्तक है, वह ब्रह्मा अर्थात् परमेश्वर ने कश्यप को सिखलाया। कश्यप ने मनु को जो कश्यप का पुत्र था और मनु ने सम्पूर्ण प्रजा को। जो आचार्य कुल से सविधि वेद को पढ़कर और नियमानुकूल गुरु सम्बन्धी कर्म

को समाप्त करके समावर्तन संस्कार करे फिर अच्छे गृहस्थ आश्रम में स्वाध्याय से पढ़ता हुआ धर्मात्मा सन्तान और शिष्यों को बताने और सर्व इन्द्रियों को वश में रख कर सर्व जीवों के साथ अहिंसा का वर्ताव करे तो वह जब तक ब्रह्मलोक की आयु है तब तक ब्रह्मलोक में रहता है। ब्रह्मलोक की आयु में नहीं लौटता। इस श्रुति से स्पष्ट विदित होता है कि ब्रह्मलोक की आयु तक नहीं लौटता है उसके बाद लौटने से इनकार नहीं, परन्तु इस अवसर पर हमारे नवीन भाई यह कहते हैं कि यहाँ पर ब्रह्मलोक की आयु से प्रयोजन नहीं किन्तु आयु भर इस प्रकार वर्ताव करेगा तब ब्रह्मलोक को प्राप्त होगा। इस स्थान पर विचार करना यह है कि क्या ब्रह्मलोक कोई भूगोल विशेष अर्थात् कोई विशेष भाग सृष्टि का है अथवा ब्रह्म दर्शन का नाम है जहाँ तक अन्वेषण करने से पता लगता है ब्रह्मलोक का अर्थ ब्रह्म दर्शन ही हो सकता है क्योंकि यदि और लोकों के समान ब्रह्मलोक कोई विशेष लोक है जैसे कि सूर्यलोक, चन्द्रलोक, पृथ्वीलोक इत्यादि हैं तो उसका भी इन लोकों के समान दर्शन होना चाहिये अथवा उसके अस्तित्व का कोई प्रमाण होना चाहिये। चाहे कैसा ही हो दोनों दशाओं में ब्रह्मलोक उत्पत्ति विशिष्ट है, जब ब्रह्मलोक उत्पत्ति विशिष्ट है तो उसकी आयु अवश्य होगी और जिसकी आयु नियत है उसका नाश अवश्य होगा। जब ब्रह्मलोक का नाश हो जावेगा तब ब्रह्मलोक को जो जीव प्राप्त होंगे उनको ब्रह्मलोक छोड़ना पडेगा। सारांश इस अवस्था में भी पुनरावृत्ति अर्थात् मुक्ति से आना मानना ही पड़ेगा, इस श्रुति का भाष्य करते समय शंकराचार्य ने ब्रह्मलोक को कार्य माना है, जिससे स्पष्ट विदित होता है कि ब्रह्मलोक की आयु ही स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं।

अचिरादिना मार्गेण कार्यब्रह्मलोकमभि सम्पद्य यावत् ब्रह्मलोक स्थितिस्तावत्तत्रैव तिष्ठति प्राक्मतो नावर्तते इत्यर्थः

अर्थात् उपासना आदि के द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है जब तक ब्रह्मलोक में रहता है तब तक वहीं रहता है और ब्रह्मलोक के नाश से पूर्व नहीं लौटता है। यहाँ पर स्वामी शंकराचार्य स्पष्ट शब्दों में मुक्ति का आनत्य

होना जो यथार्थ में ठीक है, स्वीकार करते हैं। हमने जहां तक उपनिषदों और वेदान्त दर्शन का विचार किया है हमें कहीं भी नवीन वेदान्तियों के सिद्धान्त का पता नहीं लगता है कि स्वामी शंकराचार्य ऐसा नहीं कहते बल्कि और जगह भी पता लगता है कि स्वामी शंकराचार्य और आनन्दगिरि आदि मुक्ति से लौटना मानते हैं, देखो छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ४ खण्ड १५।

स एतान्ब्रह्म गमयत्येष एव पथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यामाना इमं मानवावर्तनांऽवर्तन्ते ना वर्तन्ते।५।

अर्थ—वह इस से ब्रह्म को प्राप्त होता है। यही देवताओं का मार्ग और यही ब्रह्म का मार्ग है। इस मार्ग से ब्रह्म को प्राप्त होकर इस कल्प में नहीं लौटते। इसका टीका करते हुए आनन्द गिरि कहते हैं—

इममिति विशेषणादनावृत्तिरस्मिन् कल्पे कल्पान्तरेत्वावृत्तिरिति सून्यते।

अर्थ—इस श्रुति में जो (इमम्) यह विशेषण दिया है इससे ज्ञात होता है कि इस कल्प में तो नहीं लौटता परन्तु दूसरे कल्प में लौटता है। बहुत से लोग यह कहते है कि यहाँ पर मतलब यह है कि एक तो "कार्य ब्रह्मलोक" दूसरा "कारण ब्रह्मलोक" है जो कार्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं वह तो लौट आते हैं और जो कारण ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं वह नहीं लौटते। परन्तु इसके जब तक कोई प्रमाण और युक्ति नहीं तब तक इसका विचार करना ही व्यर्थ है क्योंकि कोई भी ऐसी श्रुति नहीं, जिसमें ब्रह्मलोक दो प्रकार का बताया हो परन्तु श्री शंकराचार्य ने दूसरे स्थान पर भी इस श्रुति पर विचार किया है जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह श्रुति ब्रह्मलोक से लौटने के सम्बन्ध में है। ब्रह्मलोक कार्य है इससे उसके नाश होने के बाद जीव को लौटना पड़ता है ब्रह्मलोक का हेतु तत्वज्ञान से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है और जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका विनाश अवश्य होता है। अब दूसरी श्रुति भी जिससे यहाँ पर शंकराचार्य ने तुलना की है, लिखते हैं। छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ५ खंड १० का भाष्य—

न च पुनरावर्तन्ते इतीमं मानवा आवर्तन्ते इत्यादि

श्रुति विरोध इति चेन्न ॥

अर्थ—ब्रह्मलोक को प्राप्त हुआ जीव नहीं लौटता। दूसरी श्रुति कहती है कि कल्प में नहीं लौटता क्या इनमें विरोध नहीं ? उत्तर मिलता है, नहीं। क्योंकि कहा है—

इमं मानवमिति विशेषणात्तोषमिह न पुनरावृत्तिरस्तीति च।

इस कल्प में पुनरावृत्ति नहीं होती इसलिये (इमम्) यह विशेषण दिया गया। इस विचार को शंकराचार्य इस पर समाप्त करते हैं—

अतः इममिहेति विशेषणार्थवत्त्वायान्यत्रवृत्तिः कल्पनीया।

अर्थ—इमम् और इन हेतुओं के आवश्यक होने से दूसरे स्थान पर पुनरावृत्ति कल्पना करो। इस पर आनन्दगिरि कहते हैं—

यस्मिन् कल्पे ब्रह्मलोकप्राप्ति, स्तस्मात्कल्पान्तरमन्यत्रेत्युक्तम्।

अर्थ—शंकराचार्य का अभिप्राय दूसरे स्थान से यह है कि जिस कल्प में पुनरागमन होता है। उपरोक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि मुक्ति से पुनरागमन का प्रश्न निर्मूलक नहीं किन्तु दृढ़ युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध होता है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि मुक्ति को वेद मन्त्रों और उपनिषद् श्रुतियों में अमृत कहा गया है यदि मुक्ति भी नाश होने वाली है तो उसका अमृत कहना अनुचित है। पर यहां पर विचार करना चाहिये कि वेदों में जीव की दो अवस्थायें वर्णन की हैं एक मर्त्य या मृत्यु, दूसरी अमृत जैसा कि यजुर्वेद अध्याय ४० में कहा है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह। विद्यया
मृत्युं तीर्त्वा विद्यायाऽमृतमश्नुते।

अर्थ—विद्या और अविद्या को जो पुरुष ग्रहण करने और त्याग करने योग्य जानता है, अर्थात् पहले तो कर्म और उपासना जो ग्रहण करने योग्य हैं परन्तु पश्चात् छोड़ने पड़ते हैं ऐसे ही विद्या भी पहले ग्रहण करनी पड़ती है फिर उसका भी त्याग करना पड़ता है। जैसे किसी को नदी के पार जाना है, कर्म उपासना जो संसार में है उसको विद्या का पहला किनारा जानकर हमउस पर खड़े हैं परन्तु जहाँ विद्यारूपी नौका आई तो अविद्या रूपी पहिला किनारा छोड़ना पड़ा, विद्या रूपी नौका को नदी के दूसरे तट पर पहुंच कर जब तक न छोड़ें तब तक पार नहीं हुए क्योंकि नाव नदी के बीच में रहती है पार

जाने के लिये नौका को छोड़ना पड़ता है। इसीलिये विद्या को भी जो छोड़ने योग्य जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को तर कर विद्या से अमृत को प्राप्त कर लेता है। संसार में जितनी योनि हैं वह सब मृत्यु कहाती हैं, उनसे मर कर छूटता है। परन्तु मोक्ष को अमृत इसलिये कहा है कि उसका परिणाम मृत्यु नहीं किन्तु यह जन्म लेकर छूटती है। बहुत लोगों ने मृत्यु का अर्थ नाश होना और अमृत का अर्थ नाश से रहित होना समझ लिया है, यह ठीक नहीं। अब बहुत लोग यह प्रश्न करेंगे कि तुम मान चुके हो कि मुक्ति में कर्म शेष नहीं रहते, जब कर्म ही नहीं तो जन्म किसके भोगने को लेता है ? ऐसे पुरुषों को जान लेना चाहिये कि योनि तीन प्रकार की होती है—एक कर्म योनि, दूसरी उभययोनि, तीसरी भोग योनि। इनमें से कर्मयोनि तो केवल और नये कर्मों के करने के लिये होती है और उभय योनि में पिछले कर्मों का फल तो भोगते हैं और आगे के लिये कर्म करते हैं। तीसरी भोग-योनि जिसमें आगे के लिये कर्म नहीं कर सकते बल्कि पिछले कर्मों का फल ही भोगते हैं। कर्मयोनि नितान्त स्वतन्त्र होती है क्योंकि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। उभययोनि में जीव कर्म करने में स्वतन्त्र होता है, परन्तु भोगने में परतन्त्र और भोगयोनि में नितान्त परतन्त्र होता है केवल भोगता ही है आगे के लिये कुछ नहीं कर सकता। इसीलिये कर्म योनि आदि सृष्टि के आरम्भ में ही उत्पन्न होती है क्योंकि माता-पिता भाई-बहिन आदि सम्बन्ध कर्म से ही होता है। परन्तु मुक्त जीवों के पिछले कर्म होते नहीं। इसलिये वे अमैथुनी सृष्टि अर्थात् सृष्टि के आरम्भ समय में ही जन्म ले सकते हैं, बहुत लोग इस भ्रान्ति में हैं कि सृष्टि तो कर्मों का फल भोगने के लिये ही होती है, जिनके कर्म ही शेष नहीं उनको जन्म क्यों दिया जावे ? परन्तु ऐसे लोगों के लिये महर्षि पतंजलि सृष्टि का प्रयोजन बतलाते हैं—

सृष्टि के प्रयोजन क्या हैं ? योनियों के भेद, आदि सृष्टि के मनुष्य।

भोगापवर्गार्थम् दृश्यम्।

इस संसार के तीन प्रयोजन हैं भोगयोनि के भोग के लिये यह संसार है

और कर्मयोनि को मुक्ति के साधन करने के लिये यह संसार है। अब प्रश्न यह होता है कि मुक्ति में जो ब्रह्मानन्द प्राप्त हुआ है उसके दूर होने का क्या कारण है ? उसका उत्तर यह है कि जो गुण नैमित्तिक होता है वह नित्य तो हो ही नहीं सकता, क्यों कि वह उत्पत्तिमान् है जिसका संयोग हुआ उसका वियोगभी आवश्यक है। अब प्रश्न यह होता है कि जब कि ब्रह्म आनन्द के लिये जीव में विद्यमान है तो उससे प्राप्त आनन्द क्यों दूर हो सकता है। पर विदित हो कि ब्रह्म तो मुक्त और बन्धन युक्त दोनों के ही भीतर है इस ब्रह्म का केवल भीतर होना ही आनन्द का कारण नहीं और नहीं प्रकृति का बाहर होना दुःख का कारण है। जहाँ यह कहा गया है कि प्रकृति की उपासना से बन्धन और ब्रह्म कीउपासना से मुक्ति होती है वहाँ उपासना से देश काल की दूरी का दूर करना प्रयोजन नहीं, क्योंकि देश और काल के सम्बन्ध से तो प्रत्येक पुरुष प्रकृति औरब्रह्म की उपासना करता है। मनुष्य क्या किन्तु सब ही प्राणी उपासना करते हैं क्योंकि ब्रह्म और प्रकृति क्रमशः दोनों सर्वव्यापक तथा नित्य हैं भेद केवल इतना है कि ब्रह्म जीवों के भीतर है प्रकृति केवल बाहर ही है। अब मुक्तिका कारण क्या था? वेदों से प्राप्त शुद्ध तत्वज्ञान जो जीव का स्वाभाविक गुण नहीं था किन्तु नैमित्तिक था जब मुक्ति में जाकर वेदों का पढ़ना बन्द हो गया तो वह ज्ञान जो नैमित्तिक था, निमित्त के नाश हो जाने से न्यून होने लगा तब वेदों से प्राप्त शुद्ध तत्वज्ञान पृथक् हो गया तो जीव अपनी असली दशा में आ गया, जिसको फिर नये सिरे से तत्वज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है, जीवों की इसी न्यूनता को दूर कराने के लिये परमात्मा ने दया से उनको अयोनि सृष्टि में उत्पन्न किया, उनमें जो सबसे पीछे मुक्त हुए थे उनके हृदय में वेदों का प्रकाश किया। जिससे वेदों के पढ़ने पढाने से जीव तत्त्वज्ञान को प्राप्त होता है, जो लोग यह समझे हुए हैं कि बिना कर्म सृष्टि नहीं होती वह भूल में हैं। बल्कि यह नाना प्रकार की सृष्टि जिसमें कोई दुःखी है कोई सुखी, कोई बलवान् है कोई निर्बल, कोई राजा है, कोई प्रजा, कोई स्वस्थ है कोई रोगी, कोई आलसी है कोई पुरुषार्थी, कोई परोपकारी है कोई स्वार्थी, परन्तु मुक्ति से लौटे हुए जीवों की सृष्टि एकसी बिना

माता-पिता के युवा अवस्था में होती है उनमें कोई निर्बल लंगड़ा कुबडा अन्धा इत्यादि नहीं होता, कर्म करने में सब स्वतन्त्र होते हैं, जैसा कर्म करते हैं वैसा फल पाते हैं।

शंका

प्रश्न होता है कि यदि सब मुक्त जीव आदि सृष्टि में उत्पन्न होते हैं तो क्या मुक्ति की सीमा एक ही सृष्टि है ? इसका उत्तर है कि सृष्टि जो ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष की होती है यह ब्रह्म का एक दिन कहलाता और ३६० दिन का वर्ष होता है इसलिये ३६० को १०० वर्ष जो आयु के हैं, से गुणा किया कोई ३६००० सृष्टि ब्रह्मलोक या मुक्तजीवन की आयु है। सारांश ३६ सहस्र सृष्टियाँ और प्रलयों तक मुक्ति में जीव आनन्द को भोगता है। अब लोग प्रश्न करते हैं कि यदि ३६ सहस्र सृष्टि और प्रलय मुक्ति की सीमा मानी जावे तो जो जीव तो सृष्टि के आदि में मुक्त हुए हैं उनको सृष्टि के आदि में जन्म लेना चाहिये परन्तु जो जीव सृष्टि के मध्य में या अन्त में मुक्त हुए हैं उनका जन्म सृष्टि के आदि में किस प्रकार होगा। क्योंकि इस दशा में मुक्ति की सीमा में न्यूनता व अधिकता हो जावेगी।

समाधान

इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो संसार में हर समय नये-नये लोक उत्पन्न होते रहते हैं जिस जीव का जिस लोक की उत्पत्ति के समय मुक्ति का समय समाप्त होने वाला होगा उसी लोक में उसका जन्म हो जावेगा. दूसरे जब कोई नौकर रखा जाता है तो हम उस दिन को गिनते हैं यह कभी नहीं गिनते कि कितने बजकर कितने मिनट पर नौकर रखा गया और तनख्वाह भी दिनों के हिसाब से देते हैं घण्टों और मिनटों के हिसाब से नहीं देते। तीसरे मुक्त जीवों के लिये आदि सृष्टि में जन्म लेने का नियम है इसलिये परमात्मा आदि सृष्टि में वेदों का उपदेश करते हैं जिससे हर एक जीव मुक्ति प्राप्त कर ले। परन्तु जो जीव अपनी-अपनी अविद्या से मुक्ति प्राप्त न करें उसमें परमात्मा का क्या अपराध ! जस प्रकार गवर्नमेंन्ट ने ५५ वर्ष की अवस्था में पेन्शन देकर नौकरी से पृथक् करने का

नियम स्थिर किया है चाहे कोई २० की अवस्था ही में नौकरी करे या २५ की में, दोनों निकाल दिये जायेंगे। इस पर गवर्नमेंट को अन्यायी नहीं कह सकते। कोई ऐसा कहते हैं कि जिससे लौट आवें वह मुक्ति कैसी ? परन्तु उत्पत्तिशील वस्तु का नाश होना आवश्यक है किसी के मानने न मानने से यह अटल नियम टल नहीं सकता क्योंकि उत्पत्तिशील मुक्ति नित्य हो नहीं सकती। गौड़पादाचार्य ने मुक्ति को पारमार्थिक मानने से इनकार किया है जैसा कि वह कहते हैं :—

गौड़पादाचार्य का परिहार

न निरोधो न चोत्पत्ति र्न च वद्धो न च साधकः। न मुमृक्षु र्न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थता।

अर्थ—यह जो संसार में लौकिक और वेदों से वताया हुआ व्यवहार है यह सब अविद्या से जाना जाता है, यथार्थ में न तो कभी प्रलय होती है और न ही कभी सृष्टि की उत्पत्ति होती है और न ही कोई जीव बंधा हुआ है और न ही कोई मोक्ष की इच्छा रखने वाला है. और न ही कोई मुक्त होता है। परन्तु गौड़पादजी से यदि कोई प्रश्न करे कि जब कि सम्पूर्ण संसार को आप मिथ्या मानते हैं, वैदिक व्यवहार को भी आप मिथ्या बताते हैं तो आपकी यह कारिका संसार से बाहर है या संसार में होने से मिथ्या है ? यदि कहो यह कारिका संसार से बाहर और सत्य है तो आपके सिद्धांत की हानि हो गई क्योंकि आप एक ब्रह्म ही को सत्य मानते हैं उसके अतिरिक्त सबको अनित्य बताते हैं। जब यह कारिका भी सत्य हो गई तो एक ही सत्य न रहा किन्तु दो सत्य हो गये। यदि कारिका को मिथ्या मानते हैं तो जिन वस्तुओं को कारिका ने मिथ्या कहा वे सब सत्य हो गईं क्योंकि मिथ्या का मिथ्या अर्थात् अभाव का अभाव भाव या सत्य होता है। जिस समय में गौड़पादादि आचार्य हुए हैं वह समय बौद्धों के बल का था। बौद्ध लोग जगत् को अनादि, कर्म के फल आदि को सत्य मानते थे, परमात्मा के अस्तित्व से इनकारी थे। गौड़पादादि ब्रह्मवादी थे उन्होंने उनके खण्डन में जो प्रयत्न किया यद्यपि किसी अंश में प्रशंसनीय है परन्तु यथार्थ में अविद्या की जड़

उन्हीं महात्माओं से पड़ी। न मुक्ति जीव का स्वाभाविक गुण है और न बन्धन जीव का स्वाभाविक गुण है। मुक्ति से पूर्व बन्धन का होना आवश्यक है और बन्धन से पूर्व मुक्ति का होना आवश्यक है। रात दिन के समान बन्धन और मुक्ति का चक्र है जब जीव ब्रह्म से सम्बन्ध करता है तब ही उसके आनन्द गुण को प्राप्त करता है। और जब प्रकृति से सम्बन्ध करता है तब बन्धन में पढ़कर दुःख का अनुभव करता है। तीन अवस्थाओं में जीव का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध होता है, जैसा कि कपिल मुनि कहते हैं :—

समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्मरूपिता ॥

अर्थ—समाधि—जब योग के यम, नियम, प्रत्याहार, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, इन सात अंगों को पूरा करके ब्रह्म के आनन्द का अनुभव करता है। सुषुप्ति जिसमें जीव ब्रह्म का सम्बन्ध होता है परन्तु जब आनन्द भोगता हुआ भी उसके कारण ब्रह्म को जानता नहीं। मुक्ति—जब शरीर के अध्यास को छोड़कर ब्रह्म का के साथ सम्बन्ध करता है, इन तीनों दशाओं में जीव में ब्रह्म का गुण आनन्द आता है। तात्पर्य्य यह है कि ज्ञान सहित और शरीर सहित ब्रह्म के सम्बन्ध को सुषुप्ति कहते हैं तथा शरीर रहित और ज्ञान सहित ब्रह्म के सम्बन्ध को मुक्ति कहते हैं। निदान यह मुक्ति जीव का नैमित्तिक गुण है, सहस्रों बार जीव मुक्त हुआ, सहस्रों बार जीव बंधा। अतः मुक्ति से पुनरावृत्ति न मानना बुद्धि और ज्ञान के विरुद्ध है।

卐

ओ३म्

अविद्या का प्रथम अंग

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभय ँ सह ।
अविद्यया मृत्यु ँ तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।

प्यारे भ्रातृ वर्ग ! इस वेद मन्त्र में परमात्मा जीवों को इस बात का उपदेश देते हैं कि जो जीव अविद्या और विद्या अर्थात् दुःख और सुख के कारण को एक समय में जानता है वह अविद्या के ज्ञान से मृत्यु को तरकर विद्या के ज्ञान से अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अविद्या जो दुःख का कारण है वह क्या वस्तु है ? इसका लक्षण महात्मा पतञ्जलि ऋषि ने यह किया है कि—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।। यो० पा० ५

अर्थ—अनित्य पदार्थों को नित्य जानना अविद्या प्रथम लक्षण है। जैसे यह शरीर नाश वाला है अथवा यह जगत जो विनाश वाला है, इसको सर्वदा स्थित रहने वाला मानना अविद्या है क्योंकि यदि जीव इस शरीर को नित्य (अब्दी) न जाने तो उस के पालने के वास्ते बड़े-बड़े पाप कभी न करे अस्तु जिस मनुष्य को यह निश्चय हो जाता है कि मैं ऐसी सराय में ठहरा हूं कि जिसमें पता नहीं कि किस समय स्वामी मुझे निकल जाने की आज्ञा दे दे तो उसमें वह मनुष्य जास्ती सामान इकट्ठा करने का श्रम नहीं करता और न मनुष्यों से प्रीति बढ़ाता है क्योंकि संपूर्ण कार्य आशा के सहारे पर होते हैं। जब आशा निवृत्ति हुई तब वहाँ कार्य कोई नहीं कर सकता, जब तक मनुष्यों को यह आशा रहती है कि यह लड़के और स्त्री मुझे सुख देंगे तब ही वह लाखों प्रकार के असत्य वाक्य (झूठ) बोलकर और विश्वासघात करके रुपया इकट्ठा करता है यदि उसका इस श्लोक पर विश्वास होता तो वो कार्य नहीं कर सकता, जैसे एक कवि ने कहा है—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो. धर्मसंग्रहः

अर्थात् यह शरीर सर्वदा रहने वाला नहीं क्योंकि हमारे प्राचीन ऋषि हमारे सामने इस जगत् से चले गए हैं, हमारे माता, पिता और भाई भी यहाँ से चल दिये हैं, शेष भी चले जा रहे हैं, पुनः किस प्रकार आशा हो सकती कि यह हमारा शरीर सर्वदा रहने वाला है, यदि नहीं तो इसके वास्ते आत्मा के बल को नाश करने से क्या लाभ है । जब ऋषि, मुनि और देवताओं के शरीर ही स्थित न रहे तो हमको अपने शरीर के नित्य रहने की आशा रखना सरासर अविद्या के घर में वास करना है । यह प्राकृत पदार्थ धनादि भी सर्वदा रहने वाले नहीं हैं, लाखों राजा महाराजा इस पृथ्वी पर से चले गए और प्रत्येक की बुद्धि में यह निश्चय हो गया था कि मैं इस संसार का राज्य भोगने के वास्ते हूं और मैं इस जगत का स्वामी हूं और संसार के सारे पदार्थ मेरे भोग के वास्ते हैं; परन्तु आज उनका नाम निशान भी दृष्टि-गोचर नहीं होता । इतना ही नहीं औरंगजेब जैसे बादशाहों की कबरों का भी पता नहीं मिलता, वह जगत को तो विचारे क्या भोगते—किन्तु आप भोगे गए, संसार की वैसी संपूर्ण वस्तु स्थित हैं, परन्तु वह जगत को अपना मानने वाले नहीं रहे ।

न आज दुनियाँ मे कोई उनकी प्रतिष्ठा है । कारूं ने लक्षों कोश (खजानें) इकट्ठे किए परन्तु आज न तो कारूं का पता मिलता है और न उसके वह कोष दीखते हैं, जबकि कारूं जैसे मनुष्यों के साथ धनादिक सांसारिक पदार्थों ने मित्रता छोड़ दी तो आज कल राजे, रईस, बनिये, सेठ साहूकार दो चार लाख के विश्वास से सम्पूर्ण ऐश्वर्यता को तुच्छ समझते हैं, इससे क्या आशा रख सकते हैं, जिन नवयुवकों(नौ जवानों) की बुद्धि में धनादिक सांसारिक पदार्थ सबसे प्यारे हैं उनको चाहिए कि वह अपने दादा परदादा की अवस्था पर विचार करें, कि उनके साथ इस माया ने (दौलत ने)कैसा वर्ताव किया । जिस माया को उन्होंने हजारों पाप कर के उत्पन्न किया मरते

समय वह उनको कुछ लाभ नहीं पहुंचा सकी। दूर मत जाओ इस देहली की अवस्था पर विचार करो—कि एक समय यह देहली इन्द्रप्रस्थ के नाम से प्रसिद्ध (मशहूर) थी, युधिष्ठिर जैसा धर्मात्मा यहां राज्य करता था जिसके अर्जुन जैसे तीरन्दाज भ्राता थे, अभिमन्यु जैसे बलवान् भतीजे थे, भीमसेन जैसे बलवान् गदाधारी योद्धा जो कटिबद्ध होकर उसके पसीने के स्थान में अपना रक्त (खून) बहाने को तैयार रहते थे, कृष्ण जैसे योगिराज उनकी सहायता के लिए कटिबद्ध थे वह युधिष्ठिर जिसने राजसूय यज्ञ किया, संपूर्ण संसार के राजाओं पर राज्य किया फिरंग (यूरुप) पाताल (अमरीका) और एशिया के कुल मुल्कों के सम्राट होते हुए अपना सिक्का चलाया जिसका वर्णन विस्तारपूर्वक महाभारत में किया है। जिसने अश्वमेध यज्ञ किया जिसकी आज्ञा में लाखों मनुष्यों की सेना रही अर्थात् बहुत सी अक्षोहिणी सेना रहती थी, बड़े-बड़े महारथी और शस्त्रधारी जिसके भ्राता हों भला आज कोई बता सकता है कि देहली में उनका कोई चिन्ह मिलता है। आज एक छोटा सा मनुष्य भी उसकी आज्ञा को नहीं मानता किन्तु कोई भी नहीं जानता कि युधिष्ठिर का गृह देहली के किस मुहल्लेमें था। युधिष्ठिर के पीछे बहुत से राजे महाराजे हुए जिन्होंने इसको अपना समझा परन्तु यह देहली किसी की नहीं हुई। युधिष्ठर ने कौरवों से लड़ाई की? सम्पूर्ण वंश का नाश किया। हा! आर्यावर्त्त के भीष्मपितामह जैसे उसकी प्राप्ति के लिये मारे (कत्ल किये) गये। द्रोणाचार्य जैसे शस्त्र विद्या के गुरु मारे परन्तु क्या देहली युधिष्ठिर की हुई! नहीं जिस युधिष्ठिर ने देहली के लिये इतना श्रम उठाकर हजारों के रक्त (खून) बहाकर बड़े-बड़े दुःख उठाये, सारे वंश का नाश किया परन्तु इतने पर भी देहली उसकी न हुई। भला जब इतनी आपत्तियों के उठाने से भी देहली युधिष्ठिर की न हुई तो उसके आदेशों (जां नशीनों) को उस से क्या आशा हो सकती थी। सब राजे नम्बर वार देहली को अपना-अपना कहते हुए चले गए परन्तु यह किसी की न हुई। किसी मूर्ख को स्मरण न हुआ कि संसार तो आज तक किसी का न हुआ ही नहीं, पुनः हम

उस में अपना अहंकार रखकर उसके वास्ते वंश का नाश करने का कलंक क्यों लें। यदि वंश को जगत के अन्दर होने से उसकी कुछ परवाह न करें तो धर्म का क्यों नाश करें। हा! अविद्या तेरी महिमा अपार है, जब युधिष्ठिर जैसे सभ्य पुरुषों को तैंने फंसा लिया तो आजकल, के निर्बुद्धि मनुष्यों का तो कहना ही क्या है! केवल युधिष्ठिर ही तेरे जाल में नहीं फंसा किन्तु उस के संपूर्ण अनुयायी तेरी भृत्यता (गुलामी) का भार सिर पर लेकर चले गए। कुछ कालान्तर के पश्चात् महाराज पृथ्वीराज इस देहली के मालिक हुए जिन्होंने क्षत्रिय धर्म के अनुसार राज्य किया। धर्मवीर पृथ्वीराज भी कुछ दिवस पर्यंत देहली को अपना कहता रहा परन्तु उसकी न हुई। अपने भ्राता जयचन्द से युद्ध में विजय पाकर हजार शूर वीरों के सिर कटाकर भी देहली पृथ्वीराज की न रही।

चित्तौराधिपति राणा समरसिंह ने जो भारत के शूरवीरों में शिरोमणि था, बहुत कुछ प्रयत्न किया यहाँ तक कि अपने प्राण भी उसकी रक्षा में समाप्त किए, परन्तु क्या देहली पृथ्वीराज की रही? नहीं कुंवर कल्याणसिंह जैसे सिंह ने बहुत कुछ श्रम किये परन्तु सब निष्फल हुए, यहाँ तक कि शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी को प्रथम वार पराजय किया। जिस देहली के लिए विजय सिंह ने पृथ्वीराज का विश्वासघात किया। कुंवर कल्याणसिंह को धोके से मार डाला, सम्पूर्ण क्षत्रिय सेना को मिटा कर आर्यावर्त्त (हिन्दुस्तान) को यवनों का सेवक बनाया, क्या यह देहली विजयसिंह की हुई? नहीं! जिस शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने लाखों मनुष्यों के रक्त बहाकर पृथ्वीराज को छल और कपटों से विजय करके अपनी सम्पूर्ण प्रतिज्ञा को भंग कर धर्म की परवाह नहीं की, अपन्थिवत्-(लामजहबों की तरह) राक्षसता का झण्डा उठाया, क्या देहली उसकी हुई, नहीं जब कि यह देहली इतने-इतने कपटों से भी अपनी नहीं हुई तो अब जो मनुष्य थोड़े वित्त होने पर अहंकारी बन जाते हैं और पाप से रुपया कमाने पर कटिवद्ध हो जाते हैं, परन्तु उनको स्मरण रहे कि संसार की सम्पूर्ण वस्तु चलती फिरती छाया है, आज किसी

को कल किसी की, मौत दिवस प्रति दिवस समीप आती जाती है। माता पिता समझते हैं कि हमारे पुत्र की आयु बढ़ती है परन्तु यह उनका विचार मिथ्या है, क्योंकि रात दिन रूपी दो चूहे हैं जो मनुष्यों की आयु रूपी रस्सी को निरन्तर काटते जारहे हैं, निश दिवस के चक्र में मनुष्यों की आयु घटती हुई ज्ञात नहीं होती—मृत्यु मनुष्य की आयु का नाश इस प्रकार करता हुआ चला जाता है जिस प्रकार प्रकाश अन्धेरे को, परन्तु जो मनुष्य मृत्यु से भय करता है उसको संसार के विषय दुःख नहीं दे सकते हैं परन्तु जिसको मृत्यु का भय नहीं है उसको पाप की भयंकर रूप आज्ञा अपने वशीभूत रखती है। पाप से वही मनुष्य बच सकता हैं जो मृत्यु को प्रत्येक समय सिर पर खड़ी देखता हैं। जो मौत को भूल जाते हैं वह अपनी हानि कर बैठते हैं, अपनी मौत को प्रत्येक समय स्मरण रखना चाहिए, इस ही से सम्बन्ध रखने वाला एक दृष्टान्त भी है।

कथा

एक समय किसी कामी राजा ने किसी विद्वान् वैद्य को आज्ञा दी कि हमारे वास्ते एक ऐसी औषधि तैयार कर दो कि जिसके सेवन से रात्रि भर काम से अवकाश न मिले। वैद्य तो ऐसे ही राजा महाराजा, नवाब और रईसों की खोज में फिरा करते हैं।

उन्होंने ऐसी ही औषधि तैयार करदी और जिस समय वह औषधि राजा की सेवा में भेजी तो राजा जी ने आनन्द को प्राप्त होते हुये भृत्य को आज्ञा दी कि इसको बाग मे लेजा कर गुरुजी की सेवा में रक्खो। भृत्य ने ऐसा ही किया, गुरुजी उस औषधि को ठीक तो जानते ही नहीं थे कि इसमें क्या गुण और अवगुण हैं, उन्होंने समझा कि राजाजी ने कुछ उत्तम ही वस्तु भेजी होगी, झट दो तीन तोले खा गये और भृत्य को आज्ञा दी कि जाओ। नौकर वापिस डिब्बा लेकर आया और सम्पूर्ण वृत्तान्त वर्णन किया राजा ने उस समय तो श्रवण करके मौन धारण किया और रात्रि को वैद्य की आज्ञानुसार एक रत्ती खाई और रात्रि के अन्तिम समय पर्यन्त काम की पूर्ति नहीं हुई।

जब प्रातः काल उठे तो स्मरण आया कि मैंने तो एक रत्ती ही खाई थी जब मेरी यह गति हुई और गुरुजी की न मालूम क्या गति हुई होगी ! यही मन में सोच कर बाग में जा पहुंचे, देखा तो गुरुजी उसी प्रकार समाधि में बैठे हुए हैं। महाराज देख कर गहरे विचार में गिर गया कि यह क्या वार्ता है।

जिस काम वृद्धि औषधि (माजूम) ने मेरा यह हाल किया उसने गुरुजी पर कुछ भी असर न किया।

इतने में गुरुजी की समाधि खुली। देखा कि महाराजा गहरे विचार में गिरे हुए हैं, पूछा कि क्या सोच रहे हो ? महाराजा ने कर जोड़कर कहा कि महाराज अपराध क्षमा करें तो कुछ जिह्वा से शब्द निकालूं। महाराज गुरुजी बोले कि निर्भयता से जो तुम्हारे मन में हो सो कहो, महाराजा ने कहा कि महाराज मेरे मन में एक शंका उत्पन्न हुई है आप इसका उत्तर देकर मेरा दुःख दूर करें। गुरुजी ने कहा पूछो—

राजा ने कहा कि महाराज मैंने जो कल आपकी सेवा में कामवर्धक औषधि भेजी थी आपने उसमें से तोले से जास्ती खाई थी और मैंने एक रत्ती, परन्तु जब भी मुझसे सम्पूर्ण रात्रि में पूर्ति नहीं हुई, आप पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ इसका क्या कारण है ? संन्यासी ने कहा कि पुनः किसी दिन बतलायेंगे परन्तु तुम आज दो मजदूर बुला कर इस बाग में रक्खो और उनको अच्छे उत्तम वस्त्र पहना कर इसको ठीक सजा कर और सुन्दर स्त्री वास्ते भोग के और प्रत्येक उत्तम सामान उनको दिया जावे और प्रत्येक दिवस उनको जिस वस्तु की आवश्यकता हो वही भेज दो। महाराज ने कहा जैसी आपकी आज्ञा है वैसा ही किया जायगा—राजाजी ने नौकरों को आज्ञा दी कि दो मजदूर नगर में से पकड़ कर बाग में ले जाओ और नजरबन्द रक्खो और कुल सामान उनका दे दो। नौकरों ने वैसा ही किया। जब वह दोनों मनुष्य खा पीकर अच्छे प्रकार पुष्ट हो गये और श्रम से मोक्ष हुए तो कामदेव ने अपना जाल फैलाया, अब जब उनको पूछा जाता कि क्या

चाहिए तो उत्तर में कहा जाता कि स्त्री, जब दस पन्द्रह दिवस उनको स्त्री मांगते हुए हो गये तो राजाजी ने गुरुजी के समीप जाकर कहा कि महाराज अब तो वह मनुष्य केवल स्त्री ही स्त्री पुकारते हैं। गुरुजी ने कहा—

अच्छा, तो नगर में मनादी करादो कि वह दो मनुष्य जो पाले गये थे कल को बलिदान किये जावेंगे परन्तु मनादी इस ढंग से कराओ कि वह भी सुन लेवें—और रात्रि को दो रत्ती औषधि दे दो! और दो सुन्दर स्त्री भी भेज दो और जो कुछ वह कहें उसका मुझे समाचार दो। श्री राजाजी ने सम्पूर्ण कार्य वैसा ही किया। जब उन मजदूरों ने सुना कि कल हम बलिदान किये जावेंगे तो मन में विचारा कि हमको जो राजा ने निष्प्रयोजन उत्तम २ भोजन वस्त्र दिये हैं उसका केवल बलिदान देने के और कोई अर्थ नहीं है, उसका कारण भी तो और नहीं दीखता है अस्तु, कल निश्चय मौत के ग्रास बनेंगे और उन स्त्रियों ने बार २ इच्छा प्रकट की किसी प्रकार हमारी तरफ ध्यान दें, परन्तु उनके ध्यान में भी नहीं आया कि हमारे पास और भी कोई है तो नहीं। उन्होंने आकर राजाजी से कहा महाराज वह तो नपुंसक हैं, महाराज चकराये कि यदि वह नपुंसक होते तो बार बार स्त्री की इच्छा क्यों प्रकट करते। महाराज नेसम्पूर्ण वृत्तान्त गुरुजी से कहा। गुरुजी ने उत्तर दिया कि वह नपुंसक नहीं किन्तु आपने उनको मौत का भय दिलाया था उसने उनको नपुंसक बना दिया है यद्यपि इतनी इच्छा होने पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। अब तू अपने प्रश्न का उत्तर सुन "जिस मृत्यु के भय ने उनको नपुंसक बना दिया, जो रात दिन काम की चेष्टा करते थे यद्यपि उनको सम्पूर्ण रात्रि को जीने की आशा थी परन्तु मुझे तो पल के जीने की आशा नहीं है फिर भला हमें वह कामदेव किस प्रकार सता सकता है।

हमारे पाठकगण! आप समझ गए होंगे कि मृत्यु का भय कितना बलवान है कि मनुष्यों को पापों से तत्काल बचा सकता है। यह केवल शरीर को अनित्य जानने का ही फल है अर्थात् अविद्या ही के प्रथम अंग को जानने से मनुष्य पापों से बच सकता है। उस मनुष्य की दशा का ढंग ही पलट जाता

है । यह एक ऐसी वात है कि जिसकी बुद्धि में वैठ जाती है उसकी दशा ही पलटा खा जाती है । मृत्यु प्रत्येक मनुष्य के शिर पर सवार है, जो लाखों तोपें अपने शत्रुओं के वास्ते रखते हैं वह भी मनुष्य के पंजे से वच नहीं सकते, जिनके पास वहुत सी वंदूक, तोप और डायनामेंट के गोले स्थित हैं वह मृत्यु की वरावरी नहीं कर सकते, जिन्होंने बड़ी-बड़ी ढालें, तलवारें, किर्च तीर और कमान शत्रुओं से वचने के वास्ते सहायक बना रखे हैं मौत के सामने सव निष्कार्य हैं । मृत्यु के भय से कोई मनुष्य तव तक नहीं वच सकता है कि तव तक वह अविद्या और विद्या के स्वरूप को ठीक-ठीक नहीं समझ ले, अतः अविद्या का प्रथम अवयव अनित्य को नित्य मानना है उसके नाश का कारण मृत्यु का भय है ।

अविद्या का द्वितीय अंग

अविद्या का प्रथम अंग तो ज्ञात हो गया—कि अनित्य को नित्य मानना ही अविद्या है, अव उसका दूसरा अवयव (हिस्सा) जतलाते हैं कि—अशुद्ध शरीर को शुद्ध मानना—प्रत्येक मनुष्य जो मोह (मोहब्बत) में फँसना केवल एक सौन्दर्य्य को देख कर क्या कोई शरीर शुद्ध कहला सकता है कदापि नहीं । क्योंकि शरीर के प्रत्येक अवयव से सिवाय मलों के और कुछ नहीं निकलता । चक्षु सवसे प्रकाश वाली और शुद्ध है उसमें भी जरासी मिट्टी पड़ जाने से जीवात्मा वहुत दुःख मानता है और जव देखोगे उसमें मल ही (ढीड) निकलता हुआ देखोगे । यदि उसको तोड़ दो तो माँस और रक्त ही निकलता है । मनुष्यों के शरीर का कौनसा अवयव है जिसके आभ्यन्तर से निकली हुई वस्तु को मनुष्य शुद्ध मानता हो । रक्त को प्रत्येक मनुष्य अशुद्ध मानता है, मांस भी अशुद्ध है ही, मेद और अस्थि भी शुद्ध नहीं, निदान शरीर में सव ही अशुद्ध वस्तु अर्थात घृणित पदार्थ भरे हुए हैं कोई भी स्वच्छ पदार्थ नहीं । मनुष्य नित्य जल से धोकर ऊपर की त्वचा को स्वच्छ कर लेता है परन्तु आभ्यन्तर से मल मूत्रादिकों को कोई भी नहीं धोता है ऐसी, दशा में शरीर के स्वच्छ होने की प्रतिज्ञा करना कैसी मूर्खता है ! क्या शूद्र का शरीर अशुद्ध

और ब्राह्मण का शुद्ध, नहीं-नहीं महाराज शारीरिक दशा में तो ब्राह्मण और शूद्र एक हैं सब ही के शरीरों में वही भ्रष्ट पदार्थ भरे हुए हैं ? जिस स्त्री को मनुष्य सुन्दर जान कर उसके मोह मे प्राण तक दे देता है यदि विचारपूर्वक देखा जावे तो यही ज्ञात होगा कि स्वर्ण के घड़े में पाखाना भरा हुआ है केवल बाह्य बनावट ने उसको सुन्दर बना रखा है वरन उसके आभ्यन्तर ऐसी वस्तु भरी हुई है कि जिसके स्पर्श से मनुष्य अपने हस्तपाद को बार-बार धोता है। चाहे कोई बाह्य दशा में कैसे ही सुन्दर हो-परन्तु मूल में निर्बलता होने से बच नहीं सकता। जब शरीर की ऐसी गति है तो मनुष्य क्यों इससे मोह करता है केवल अविद्या के कारण से वरन कोई विद्वान् मनुष्य ऐसी मलीन वस्तु को स्पर्श करना भी अच्छा नहीं समझता। अविद्या के गहरे चक्र में गिर कर जीव की बुद्धि विनाश को प्राप्त होकर मनुष्य को धर्माधर्म का ज्ञान भी भुला देती है यहां तक ही खराबी नहीं हुई किन्तु इस अविद्या के कारण से ऐसे मांस को कि जिसकी दुर्गन्ध से मकानों में ठहरना कठिन ज्ञात होता था मनुष्यों ने उसको भी खुराक मान लिया है। कोई नहीं विचारता कि भेड़ का सम्पूर्ण शरीर जिस खुराक से बना है वह भक्ष्य मनुष्यों की दृष्टि से गिरा हुआ है परन्तु मनुष्य उसको भी आनन्द से भक्षण करते हैं जब तक वह अच्छी दशा में ह तब तक तो उसको अच्छा नहीं मानते परन्तु जब उसमें दुर्गन्ध आने लग जाती है तो वह मद्य बन जाती है, और मनुष्य उसको पीने के वास्ते अधिक मूल्य पर भी लेते हैं।

निदान मनुष्य अविद्या के कारण प्रत्येक भ्रष्ट से भ्रष्ट वस्तु को भी स्वच्छ समझ कर अपनी आत्मिक दशा का विनाश कर बैठे हैं जिसको देखकर विद्वान लोग बहुत ही घबराते हैं। यदि किसी का हस्त रक्त से स्पर्श हो जावे तो वह बीसियों बार हाथ को मिट्टी से धोता है परन्तु रक्त के भरे हुए मांस को भक्षण के लिए विचारे जीवों की नाड़ियों की चाल को बन्द कर देते हैं अर्थात वियोग कर डालते हैं। प्रथम तो मनुष्यों का शरीर ही भ्रष्ट पदार्थों से भरा हुआ है परन्तु बहुत से मनुष्य कह बैठेंगे कि हमें तो मनुष्यों के शरीर में से दुर्गन्ध नहीं आती यदि यह स्वच्छ नहीं होता तो दुर्गन्ध अवश्य आती परन्तु आपको स्मरण

रहे कि प्रथम तो दुर्गन्ध उन पदार्थों में से आया करती है जो उनको कभी नहीं मिले—वरन आभ्यन्तर होने से अधिक समय तक जो गन्ध को ग्रहण करते हैं अतः उसको ज्ञान शक्ति नहीं रहती और वह वस्तु अपने अनुसार हो जाती है क्योंकि हम देखते हैं कि चर्मकार मनुष्य चमड़ा धोने वाले खटीक चर्म की गन्ध के इतने शत्रु नहीं होते कि जितने हम तुम और मांस के बेचने वाले (कसाई) मांस की दुर्गन्ध से नहीं घबराते। कारण यही है कि उनकी इन्द्रियों में उन वस्तुओं के समीप रहने से आपस में ऐसा सम्बन्ध हो जाता है कि उनमें कोई भेद ज्ञात नहीं होता।

जिस प्रकार इस जाति के मनुष्य दुर्गन्ध से घृणा नहीं करते उनको अस्वच्छ पदार्थ भी स्वच्छ ज्ञात होते हैं। यही दशा उन मनुष्यों की है जो रात्रि दिन शरीर को ही जीव (रूह) समझ कर उसकी रक्षा में लगे रहते हैं उनको यह विचार नहीं होता कि जिस शरीरसे प्रत्येक समय गन्दगी के पदार्थ निकलते हैं वह शरीर किस प्रकार शुद्ध कहला सकता है—जब कि ऐसे ज्ञान के हेतु से स्थित हो जावे कि प्रत्येक शरीर गन्दगी का थैला है चाहे वह थैला चमकदार मख-मल का हो अथवा सन की बोरी का परन्तु उस थैले के अन्दर दुर्गन्धित पदार्थ हैं तो वह कभी इससे मोह नहीं कर सकता और न कभी सुन्दर वस्तु को देख कर उस पर मस्त (दीवाना) हो सकता है क्योंकि वह जानता है कि यह सुन्दरता बाहर ही दृष्टिगोचर होती है न कि आभ्यन्तर भी। उसमें कोई वस्तु ऐसी नहीं है कि जिससे मोह किया जावे। यह चलती हुई गाड़ी जो प्रत्यक्ष में चमकीली ज्ञात होती है प्रत्येक मनुष्य को अपनी तरफ खेंच सकती है परन्तु जिस मनुष्य को इसके कारण का ज्ञान है वह जानता है कि यह पदार्थ सब दिखावटी हैं।

जो मनुष्य भक्ष्यादिक की दुर्गन्धि को अच्छी तरह से जानते हैं वह कदापि ऐसे पशुओं के भक्षण का श्रम न करेंगे परन्तु जिन मनुष्यों को अविद्या के कारण स भ्रष्ट शरीर को स्वच्छ होने का निश्चय हो जाता है वह शारीरिक उन्नति को सामाजिक और आत्मिक उन्नति के बराबर समझते हैं, नहीं नहीं

किन्तु इनसे अधिक मानते हैं। वह मनुष्य गन्दी वस्तुओं को किस प्रकार अशुद्ध कह सकते हैं, और किस प्रकार उनके विचार से रुक सकते हैं ? संसार में यदि विचारपूर्वक देखा जावे तो बहुत थोड़े मनुष्य ऐसे मिलेंगे जो अविद्या के फंदे से पृथक हैं। अविद्या के बल और पराक्रम ने सम्पूर्ण संसार को चक्र में डाल रक्खा है, यद्यपि हजारों उपदेशकों के उपदेश होने पर भी जग में पापों का बल अपनी सम्पूर्ण शक्ति से कर्म कर रहा है संसार की कोई शक्ति ऐसी नहीं है कि इसका निरोध कर सके।

गवर्नमेन्ट (राजसभा) अधर्मियों को दण्ड देकर अर्थात हिंसकों का वध का, चोरों को कारागार इत्यादि का दंड देकर निदान कि हजारों प्रकार से यत्न करती हुई यह इच्छा प्रकट करती है कि मेरे राज्य में मनुष्य धार्मिक और सच्चे रहें और पापों का होना नितान्त छूट जावे परन्तु जहां तक पता मिलता है यही पाया जाता है कि पापों का होना इस प्रकार बढ़ रहा है कि जिस प्रकार वर्षा ऋतु में नदी की वृद्धि होती है—जहां पहिले एक स्थान पर व्यवहार होते समय छल, कपट और मुकद्दमे बाजी का भय नहीं था वहां पर आज हजारों प्रकार के प्रबन्ध होने पर नहीं किन्तु रजिस्टरी और तमस्सुक के होने से यह झगड़ा समाप्त नहीं हुआ, भाई का भ्राता शत्रु हो गया, रात्रि दिन राज सभा में झूंठे गवाह और टका पंथी वकीलों की चाँदी दृष्टिगोचर होती है, प्रत्येक मनुष्य के मन में स्वार्थ ने पना घर बना लिया है और अहंकार भी इतना बढ़ रहा है कि अपने आपको न ज्ञात कि क्या (अफलातून) समझ रखा है क्योंकि अविद्या के कारण वह नहीं जानता कि उसकी सत्ता क्या है जिस शरीर के लिए वह इतना झगड़ा कर रहा है वह एक मिनट में विनाश को प्राप्त होने वाला है। आज कल की शिक्षा अविद्या को दूर करने के अतिरिक्त और भी अधिक वृद्धि को प्राप्त करा देती है। बालक पाठशाला (स्कूल) में पीछे जाता है उसको तनकी रक्षा का स्मरण प्रथम होता है छोटी सी अवस्था में बिना छाता और ऐनक के कार्य नहीं चल सकता, कोट, बूट, और चुरट तो ऐसे आवश्यकीय हैं कि उनको एक दिन न मिले तो सभ्यता की

पुच्छ दूर हो जाती है। इस समय भारतवर्ष में अविद्या के द्वितीयावयव ने तो इतना बल प्राप्त कर लिया है कि मनुष्य मूल से हजारों योजन दूर जा पड़े हैं। क्या भारतवासियों ने शुद्धाशुद्ध का विचार नहीं किया, क्या इस नियम का ज्ञान ही ऐसा नहीं किन्तु भारतवासियों को प्रत्येक में शुद्धाशुद्धा का विचार लगा हुआ है परन्तु शोक इस बात का है कि इस उत्तम नियम का अर्थ उल्टा समझ लिया है। भोजन करते समय शुद्धाशुद्ध का बहुत कुछ विचार है परन्तु वह सब बेढंगा है कि अविद्या के दूर करने के अतिरिक्त उसको बढ़ाने का कारण हो गया है। भारत में कान्यकुब्ज ब्राह्मण शुद्धि का बहुत अहंकार करते हैं उनकी भोजनादि में तो यह दशा है कि वह ब्राह्मण के हाथ की रोटी तक नहीं खाते हैं, यही नहीं किन्तु आपस में भी भाई भाई के हाथ की नहीं भक्षण करते परन्तु क्या उन्होंने भ्रष्ट पदार्थों का त्याग किया ? नहीं नहीं किन्तु उनमें तो माँस के भक्षण करने वाले प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। कश्मीरी ब्राह्मण जो एक दूसरे के हाथ की बनी हुई रोटी नहीं खाते, नहीं नहीं किन्तु पकवान भी नहीं खाते वह भी तो मांस को चट कर जाते हैं, किन्तु इन दोनों प्रकार के पण्डितों में हजारों मनुष्य इन पदार्थों का भक्षण करना धर्म समझते हैं और अपने इष्ट देवताओं को अज (बकरे) का बलिदान देते हैं, नहीं नहीं किन्तु प्रायः मन्दिरों में भैंसों के कण्ठ पर शस्त्र रक्खा जाता है। काली कलकत्ते वाली का मन्दिर जिस मनुष्य ने देखा होगा वह अच्छी तरह से जानता है कि कहां तक इन बिचारे पशुओं की हानि इस अविद्या के कारण से होती है। पटियाले में विश्वपति नाथ महादेव के मन्दिर में हजारों भैंसे प्रत्येक वर्ष मारे जाते हैं, बिचारी बकरी और भेड़ों की क्या संख्या है ! विन्ध्याचल देवी के मन्दिर में भी ऐसा ही हिंसा का बाजार गर्म दृष्टिगोचर होता है। वहाँ इस ही अविद्या के कारण से धर्म के स्थान में अधर्म कर रहे हैं, नहीं विचारते कि जिस दुर्गा को तुम माता कहते हो क्यों वह जगत में माता होने से इन बकरे भैंसो की भी तो माता होगी। क्या वह देवी है अथवा डायन है क्योंकि डायन अथवा सर्पनी के अतिरिक्त और कोई माता अपने बच्चों का भक्षण करना नहीं चाहती है। सामान्य दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि—

डायन भी तीन गृह त्याग देती है न ज्ञात कि क्यों मनुष्य देव्यादि पर कलंक लगाते हैं। अजी महाराज! केवल अपनी अविद्या को सिद्ध करने के लिए? अभी आप ज्वालामुखी के मन्दिर में चले जावें वहाँ भी जीवों की हिंसा ही होती पावेगी। यही दशा कांगड़ में दृष्टिगोचर होती है। भला ऐसी उत्तम जगह में जहां पूर्व बड़े-बड़े विद्वान् रहते थे और इस समय भी जो जाते हैं वह धर्म का संकल्प करके पुनः क्यों ऐसे खराब कार्य होते हैं केवल अविद्या के कारण से वरन् कोई विद्वान् मनुष्य ऐसी वार्ता को मान नहीं सकता है।

यद्यपि इन दुराचारों में स्वार्थ का भी पूर्ण भाग है परन्तु स्वार्थ तो पुजारी और तीर्थ के ब्राह्मणों का ही कहला सकता है। विचारे यात्री जो दूर-दूर से बहुत सा रुपया व्यय करके, बहुत सी आपत्ति उठा कर घर के कार्य और धन्धों को छोड कर वहां तक जाते हैं वह तो अपने ज्ञान में धर्म करने जाते हैं यदि उनको ज्ञान होना कि जीवों की हिंसा जिसको हम अविद्या से धर्म समझ बैठे हैं महापाप है तो वे कदापि जीव हिंसा न करते। न तो उन्होंने धर्म शास्त्र की शिक्षा पाई और न सुविद्वानों का सत्सङ्ग किया है यदि यह गप है तो उन साधुओं के पास जो यात्री वाममार्गी होते हैं अथवा अहं ब्रह्मास्मि होते हैं इन दोनों प्रकार के साधुओं के पास तो धर्म की शिक्षा मिल ही नहीं सकती क्योंकि वाममार्गी तो अधर्म को भी धर्म मानता है और नवीन वेदान्ती के विचार में जीव ही ब्रह्म है जिनके लिए किसी धर्म की आवश्यकता ही नहीं है।

इनके अतिरिक्त वैरागी आदिक तो बिल्कुल अपठित होते हैं यही कारण है कि सम्पूर्ण वह जातियाँ कि जिनके हृदय में दया भी होती है वैदिक धर्म से पृथक् होकर जैन धर्म में सम्मिलित हुए। यदि इस प्रकार के हिंसक धर्म न चल जाते जो कि वेदों के विरुद्ध शिक्षा दे रहे हैं तो कदापि आर्यावर्त्त में बौद्ध जैनादिक नास्तिक मत नहीं चलते और न उनके आचार्यों को उनके चलाने की आवश्यकता ज्ञात होती। अस्वच्छ पदार्थ को स्वच्छ जानने वाले वाममार्गियों ने आर्यावर्त्त को बहुत कुछ हानि पहुंचाई क्योंकि मनुष्यों को धर्म के

पंथ से हटाकर अधर्म के मार्ग में लगा दिया और आत्मिकोन्नति के अतिरिक्त शारीरिकोन्नति की पुकार मचा दी और कहने लगे :—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनराग मन कुतः॥
चार्वाक मत दर्शने।

अर्थ—जब तक जीयो सुख से जीयो क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को मृत्यु के पंजे में आना है और भविष्यत् के लिए धर्माधर्म कोई वस्तु नहीं है क्योंकि जो शरीर भस्म हो गया वह आगे को दूसरी बार कर्मों का फल भोगने के वास्ते किस प्रकार आ सकता है! इस प्रकार अशुद्ध शरीर को शुद्ध मानने वाले ने ठीक वार्ता को न जान कर संसार में ऐसी अविद्या फैलादी है और मनुष्यों में धर्म के नाश हो जाने से लिप्सा (हिरस) इतनी बढ़ गई है कि जिसके कारण से मनुष्य अपनी इच्छा पूर्ण करने के वास्ते अधर्म पर तत्पर हो गए। विजयसिंह ने विश्वासघात करके पृथ्वीराज को मरवाया। राना सुखदेव ने राना सांगा का सम्पूर्ण कार्य विगाड़ा, जयपुर और जोधपुर के राजपूत महाराजाओं ने कि जिनका सकल राजपूतों में प्रतिष्ठा का डंका समझा जाता है, यवनमति राजाओं को लड़की देदी, क्षत्रियपने को बट्टा लगा दिया ऐसा क्यों? मनुष्यों ने सांसारिक प्रतिष्ठा और शरीरों के भोगों को धर्म से अधिक समझा था, उनके सामने धर्म एक तुच्छ वस्तु थी, निदान वाममार्ग ने भारतवर्ष को इतने कलंक लगाए हैं कि जिनके लिखने के लिए इस लघु पुस्तक में स्थान कहाँ मिल सकता है!

अजी वाममार्ग क्या है? वाम शब्द का अर्थ उलटा और मार्ग का रास्ता है। अर्थात् मुक्ति का उलटा रास्ता। सर्वदा मिथ्या मार्ग पर वही चलते हैं कि जिन को रास्ते का ज्ञान न हो और ज्ञान का ठीक-ठीक न होना यही अविद्या है। अतः आर्यावर्त्त में वाममार्ग का कारण यह अविद्या का दूसरा अवयव है अर्थात् शुद्ध वस्तु को अशुद्ध जानना। जब तक मनुष्य जाति इस भ्रष्ट शरीर को स्वच्छ समझती रहेगी तब तक यह अविद्या दूर नहीं हो सकती और न उसके हृदय में आत्मा की उन्नति का विचार आ सकता है।

क्योंकि पश्चिम की तरफ चलने वाला पूर्व के पदार्थों को देख नहीं सकता जब तक कि वह पश्चिम की तरफ से पूर्व की तरफ न देखे।

इस ही प्रकार शारीरिक और आत्मिक उन्नति के दो विरुद्ध मार्ग हैं। जो मनुष्य शारीरिक उन्नति में लगे हुए हैं वह आत्मिक उन्नति से दूर भाग रहे हैं और जो आत्मिक उन्नति की चेष्टा करते हैं वह शरीर की कुछ परवाह नहीं करते और जो मनुष्य दोनों उन्नति चाहते हैं वह दोनों मार्ग से गिरजाते हैं, जिस प्रकार एक मनुष्य देहली में है वह कलकत्ते भी जाना चाहता है जो कि पूर्व में है पंजाब भी, तो नित्य एक मील पूर्व को जाता है और एक पश्चिम को और कुछ कालान्तर के पश्चात् अपने को देहली में ही देखता है न तो वह कलकत्ते जा सकता है और न पंजाब में। परन्तु हमारे पाठकगण कह उठेंगे कि यदि यही दशा है तो आर्यसमाज के छठ नियम में यह क्यों लिखा है कि शारीरिक, सामाजिक और आत्मिक उन्नति करना। क्योंकि तुम शारीरिक उन्नति के विरुद्ध कह रहे हो, परन्तु स्मरण रहे कि इस प्रकार की तर्क करने वालों ने स्वामी जी के नियम को समझा नहीं क्योंकि नियम यह है कि संसार का उपकार करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है। अब उसकी व्याख्या करते हैं कि संसार का क्या उपकार किया जावे सो उसके उत्तर में कहते हैं कि जो मनुष्य अनाथ और वृद्ध हो अपनी शारीरिक दशा में निर्बल होने से रक्षा में परतन्त्र है उनको भोग्य पदार्थादिक की सहायता देकर शारीरिक उन्नति करना और जो मनुष्य अविद्या के कारण से अपनी आत्मा को निर्बल जानते हैं और उनके अन्दर इस प्रकार की शक्ति (हौसला) नहीं है कि वह अच्छे कार्य कर सकें तो उनको धर्मोपदेश देकर अविद्या के जाल से निकाल कर उनकी शक्तियों का दर्शन कराने से दृढ़ बनाना यह आत्मिक उन्नति है। और जो मनुष्य मतमतान्तरों के झगड़ों से भाई होने पर भी आपस में झगड़ रहे हैं उनको वैदिक धर्म की पवित्र शिक्षा से इन वाद-विवादों से हटा कर परमात्मा की सच्ची भक्ति में लगाना यह सामाजिक उन्नति है। क्योंकि जब सब मनुष्य परमात्मा के सच्चे सेवक और वैदिक धर्म के अनुसार

काम करने वाले हो जावें तो जगत में कोई भी खराबी नहीं रहती और मनुष्य जाति के जो अविद्या के कारण से टुकड़े होकर प्रत्येक मनुष्य अपने आप को निर्बल समझ बैठा है यहां तक कि बहुत मनुष्य केवल रोटी का उत्पन्न कर लेना ही बहुत कुछ समझ रहे हैं वह नहीं जानते कि हम मनुष्य जाति से पशु बन रहे हैं, क्योंकि भविष्यत् का प्रबन्ध करना मनुष्य का धर्म है और वतमान में अपने पास हो उस पर ही सन्तोष करना पशुओं का धर्म है क्योंकि मनुष्य सर्वदा आगे बढ़ने की इच्छा रखता है। हमारे विचार में तो जब तक अविद्या का द्वितीय अवयव संसार में स्थित रहेगा तब तक कोई मनुष्य वह उन्नति कि जिसकी पूर्व के ऋषि और विद्वान भी प्रशंसा करते थे नहीं कर सकता और जो मनुष्य इस अविद्या से पृथक् होजाते हैं वह अपने कामों का बड़े प्रबल वेग से कर सकते हैं और उन में से एक एक मनुष्य लाखों मनुष्यों को सुधार सकते हैं। आओ आर्यगण! हम सब मिलकर परमात्मा से प्रार्थना करें कि हमारे सुहृदय से अविद्या के इस अंग को ढूंढ़ने में सहायता दें, आओ! प्रयत्न करें कि हमारी आत्मा का दुर्बल बनाने वाली अविद्या हम से दूर चली जावे और हम जिस आनन्द को प्राप्त करना चाहते हैं उसका प्राप्त कर लेवें।

अविद्या का तीसरा अंग

आप लोग अविद्या के प्रथम और द्वितीय अंग को तो जान गये, अब तृतीय अंग का वर्णन किया जाता है। अविद्या का तीसरा अंग दुःख में सुख मानना है। कदाचित् आप लोग यह जानते होंगे कि दुःख क्या वस्तु है? जहाँ तक बुद्धिमानों ने विचार किया है उससे सिद्ध हो गया है कि दुःख स्वतन्त्रता के न होने का नाम है। जैसे एक मनुष्य को स्वतन्त्रता है जब चाहे चला जावे, तो वह घर में रहने से दुःख नहीं मानता परन्तु यदि उसे जाने से रोक दिया जावे तो वही घर उसे दुःख का कारण हो जायगा। आप देखते हैं कि जिस कारागार में बन्दी दुःख पाता है उसी कारागार में कारागार निरीक्षक सुख से रहता है। क्या कारण कि बन्दी को दुःख प्राप्त होता है? यही कि वह चलने-

फिरने में स्वतन्त्र नहीं, परन्तु निरीक्षक स्वतन्त्र है और उसे कोई दुःख नहीं होता। यदि किसी मनुष्य को भूख लगे और भोजन पास हो तो उसे कोई कष्ट नहीं होता परन्तु जिसके पास भोजन न हो उसे अत्यन्त कष्ट होता है। इससे पता चलता है कि आवश्यकता का होना और उसके पूर्ण करने में समर्थ न होना ही अत्यन्त क्लेश का कारण है। आज जब कि मनुष्य के लिए आवश्यकताओं को बढ़ाने में सुख समझते हैं वह वास्तव में अविद्या के इस तीसरे अंग में फंसे हुए हैं। अर्थात दुःख में सुख की भावना रखते हैं। प्राय: देखा जाता है कि यदि एक कृषक को वन में नींद आवे तो वह वहीं खेत में सो जाता है और उसे कुछ भी कष्ट नहीं होता। इसके विपरीत यदि वही थोड़े दिन नगर में रखा जावे और आनन्द से गद्दी तकियों पर सोने की टेव (आदत) लगाई जावे तो उसे थोड़े से भी कष्ट के स्थान पर नींद नहीं आती। संसार में वस्तुओं का प्राप्त करना दूसरों को दुःख दिये विना असम्भव है, परन्तु आवश्यकताओं का न बढ़ाना बहुत ही सुगम है क्योंकि इसमें किसी को दुःख पहुंचाने की भी आवश्यकता नहीं। दूसरे समाप्ति करने की दशा में मानुषी शक्तियों का सामना होता है। अब यदि दोनों मनुष्य बुद्धि में समान हैं तो कोई भी दूसरे से प्राप्त नहीं कर सकता। फिर बल से सामना आरम्भ होता है। यदि इसमें भी समान हैं तो फिर हथियारों से, आशय यह कि इच्छावान् मनुष्य संसार को लाभ पहुंचाने के स्थान पर दूसरों को हानि पहुंचाने का प्रयत्न करता है जिससे कि सामना (मुकाबला) होने के कारण रात दिन चिन्ता की नदी में डूबे रहना पड़ता है। परन्तु दूसरे विचार का मनुष्य जो अपनी आवश्यकता को घटी हुई रखता है, कभी बढ़ाने का ध्यान ही नहीं करता उसका किसी से सामना ही नहीं, वह अपने भुजाओं के बल से थोड़ा सा प्राप्त करके उसी के आनन्द में जीवन-यात्रा चलाता है। यदि इसके प्रयोग में सादृश्य देखना हो तो एक ग्रामीण कृषक तथा नागरिक दुकानदारों के जीवन पर विचारपूर्वक दृष्टि डालो तो प्रकट हो जायगा कि कृषक नागरिक से प्रत्येक अवस्था में सुखी है। उसका स्वास्थ्य एवं शारीरिक अवयव किसी

प्रकार की चिन्ता न होने के कारण पूर्ण सुदृढ़ हैं, उसके चित्त में किसी प्रकार की चिन्ता का स्थान नहीं, वह दिन भर काम करता है और तत्पश्चात् घर में आकर परमेश्वर का नाम स्मरण करता है अथवा सानन्द सो जाता है। उसे न चोर का डर है न हानि का भय। वह कभी ऐसी इच्छा नहीं करता कि हे परमेश्वर अकल का अन्धा और गांठ का पूरा भेजना। क्योंकि उसे किसी दूसरे की कमाई से कोई भाग टांचने की आवश्यकता ही नहीं। वह अपनी कमाई से जो उसने भुजा बल से की है सतुष्ट है। वह यदि परमेश्वर से प्रार्थना करता है तो यही कि वृष्टि हो जिससे कि सम्पूर्ण दशा में अन्न बहुतायत से हो। मनुष्यों को सुख पहुंचे। उसकी कमाई में से सहस्रों पशु पक्षी लत हैं, मार्ग से जाते हुए बटोई भी एकाध गन्ना उखाड़ ले जाते हैं, परन्तु उसे कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि उसने अपनी आवश्यकताओं को थोड़ा (परिमित) कर रखा है। दूसरी ओर दुकानदारों को लीजिए। उनकी अवस्था नितान्त विगड़ी हुई हैं। वह रात दिन बेईमानी (असत्य) पर कटिबद्ध रहते हैं। दूध में पानी मिलावें, घी में चरबी मिलावें, सोंने और चांदी में खोट मिलाव, कहां तक कहें लाखो प्रकार का फरेब और मक्कारी करते हैं। बहियों में नाम लिखते हैं। सहस्रों प्रकार के जाल बनाते हैं, रात के दस बारह बजे तक निद्रा नहीं आती। जब खटिया पर लेटे तो चिन्ताओं ने आ घेरा। कभी ध्यान आया कि अमुक मनुष्य की रकम अवश्य मारी जायगी, किसी प्रकार निकालने का प्रयत्न करना उचित है। कभी ध्यान आया कि अमुक मनुष्य का मकान (घर) बहुत सुन्दर और उचित स्थान पर है, इसको जैसे हो सके ले लेना चाहिए, क्योंकि उससे किराये की आय बहुत होगी। कभी भय है कि कहीं चोर न आ जावे, तनिक आहट हुई और लाला जी के हवास गुम हुए नोकरों को पुकारते हैं। सार यह कि रात्रि भर नींद नहीं आती। इतना ही नही वरन् नित्य पाचन की पीड़ा, कभी खांसी का वेग और कभी ज्वर का कोप ह। इसी प्रकार इन्द्रियों के सेवकों की अवस्था है। एक ब्रह्मचारी को देखिए कि जिसके मन में काम की तनिक भी इच्छा नहीं, (अरुण बदन) शरीर दढ़,

इन्द्रियाँ यथोचित काम करने वाली, निश्चिन्त होकर जीवन व्यतीत करता है, दूसरी ओर एक कामी पुरुष ले लीजिए कि वह दिन भर अपने शृंगार में लगा हुआ अपने को सुन्दर बनाने का प्रयत्न कर रहा है और कहीं इत्र तेल की आवश्यकता है, कहीं पान की इच्छा है, परन्तु इस पर भी मुख (चेहरे) का रंगपीला है, शरीर में आलस्य। कहीं उत्तमोत्तम वस्त्र बनवाने का प्रयत्न कररहा है, उपदंश और प्रमेह की औषधि सेवन कर रहा है, प्रमेह के विकार ने इन्द्रियां बातिल (शक्ति रहित) कर दी हैं और जो वैद्य मिलता है उससे बाजीकरणौषधि पूछ रहा है। सार यह कि रात्रि दिवस फँसे हुए हैं। रोगों से समय ही नहीं मिलता फिर धर्म कर्म का ज्ञान कैसे हो सकता है। प्रत्येक मनुष्य की गांठ पर आपकी दृष्टि लग रही है कि किसी प्रकार इससे थोड़ा बहुत छीन ही लेवें चाहे बुद्धि से चाहे युक्ति से, चाहे धोखे द्वारा अथवा फरेब द्वारा। कहने का तात्पर्य यह है कि विषय भोग वालों को एक निमिष भी सुख नहीं मिलता। परन्तु इस प्रकार के अज्ञान हैं कि नित्य प्रति दुःख के भोगते हुए भी उसी दुःख के मार्ग में पुनः चल रहे हैं। यह ऐसी प्रबल अविद्या है कि इसने योग्य-योग्य पुरुषों को बुद्धिहीन बना दिया है। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जावे तो विदित होगा कि विषयों में सुख तनिक भी नहीं। बहुत से मनुष्य कहेंगे कि जब हम उत्तम पदार्थ खाते हैं तब हमें सुख अनुभव होता है, परन्तु तुम कहते हो कि विषय भोग में सुख नहीं। ऐसी दशा में हम अपने अनुभव को सत्य मानें कि तुम्हारे कथन को ? परन्तु ध्यान देने से प्रकट होगा कि उनका यह भाव सत्य नहीं क्योंकि जो सुख विषय में होता है उसका कारण मन की वृत्तियों का एक होना है, क्योंकि जब तक मन चारों ओर से हटकर किसी विषय में न लग जावे उस समय तक उस विषय का आनन्द यथार्थ रीति पर अनुभव नहीं होता। अब देखिए सुख तो वृत्तियों के एकत्र होने में था परन्तु मूर्ख जन समझते हैं कि विषय में सुख है। जिस प्रकार किसी श्वान के मुख में सूखी अस्थि हो और उसके कारण उसकी जिह्वा में घाव होकर लोहू निकलना आरम्भ होता है। अब लहू तो जीभ से निकलता है परन्तु मूर्ख श्वान

समझ रहा है कि लहू हाड़ में से निकलता है। यही दशा मूर्ख मनुष्यों की है कि सुख तो उसके चित्त की वृत्तियों के एकत्र होने से होता है और वह जानते हैं कि विषय से सुख हो रहा है क्योंकि जिस समय मन में कोई दूसरा विचार उपस्थित हो उस समय कोई विषय भी सुख नहीं देता। उदाहरणार्थ किसी वेश्यागामी का पुत्र मर जावे, यदि आप उसको इस अवस्था में नाच दिखायें तो उने तनिक भी आनन्द नहीं होगा, वरन् वह तुरन्त कह देगा कि मेरा चित्त नहीं लगता। अनुभव द्वारा प्रकट हुआ है कि मन की इच्छा पर एक बुरी वस्तु भी उत्तम लगती है और जब मन में इच्छा न हो तो उत्तम पदार्थों से भी दुःख होता है। अब आप देखिए कि विषय के विद्यमान होने पर चित्त की वृत्तियों के एकत्र न होने के कारण सुख नहीं होता और चित्त के रुक जाने से विषय के न होने पर भी सुख होता है, जैसा कि नित्यप्रति सुषुप्ति अवस्था से प्रकट है कि उस समय किसी विषय के न होने पर भी प्रत्येक मनुष्य को सुख होता है। इससे स्पष्ट पता लग गया कि सुख मन की वृत्तियों के एकत्र होने की अवस्था में होता है तथा दुःख चित्त की वृत्तियों के फैलने मे होता है। अब जिन वस्तुओं से चित्त स्थिर न रहे उनको सुख समझना सचमुच अविद्या का तीसरा अंग अर्थात् दुःख को सुख मानना है। अब इस बात को प्रत्येक मनुष्य जानता है कि आवश्यकताओं के बढ़ जाने तथा तदनुसार सामान (पदार्थ) न मिलने से ही इन्तजार (अस्थिरता) उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में जो शिक्षा की आवश्यकताओं को बढ़ाये, मूर्ख लोग तो उसे सुख का कारण ही समझते हैं परन्तु है वह वास्तव में दुःख का कारण, क्योंकि उससे आवश्यकताएँ बढ़ कर देश के मनुष्यों के चित्त में अस्थिरता अधिक बढ़ जायगी फिर वह किसी कार्य के योग्य न रहेंगे। प्रियवर मित्रो! आज कल जिन देशों को आप सभ्य कह रहे हैं वास्तव में वह देश अविद्या के गाढ़ खोह में पड़े हुए हैं। भारत के मूर्ख मनुष्य यूरोप की प्रकृति-उपासना को सभ्यता के नाम से पुकारते हैं। आपमे से अधिक मनुष्य मेरे विचार से सहमत होंगे क्योंकि यूरोप की सभ्यता को आप आदर की दृष्टि से देख रहे हैं, परन्तु

बातें ऐसी नहीं हैं। प्रियवर मित्रगण ! ध्यान देकर विचारो कि शस्त्र कौन से रोग की औषधि है, क्योंकि मनुष्य जो कुछ करता है अपने रोगों की औषधि करता है। जैसे क्षुधा का रोग है उसकी औषधि भोजन तथा तृषा रोग की औषधि जल है। इसी प्रकार मनुष्य जो कुछ प्रयोग करता है अपने किसी न किसी रोग की औषधि ही है, परन्तु विचार करने से पता चलेगा कि शस्त्रों की आवश्यकता मनुष्य के किसी रोग के निमित्त तो दिखाई नहीं पड़ती। हाँ केवल शत्रु से बचने के लिये शस्त्रों की आवश्यकता होती है और जिस समय रोग उत्पन्न होता है तब ही मनुष्य औषधि को ढूँढता है अतः यह ज्ञात हुआ कि आज कल यूरोप की जो अवस्था है सो बहुत ही भयानक है, क्योंकि प्रत्येक देश में जितना द्रव्य मिल सकता है सब जंगी सामान(युद्ध सम्बन्धी)की वस्तुओं के बनाने पर व्यय हो रहा है जिससे स्पष्टतया विदित होता है कि वर्तमान समय में यूरोप के सम्पूर्ण देश शत्रुओं के भय से पीड़ित हैं और उनको प्रत्येक समय अपनी चिकित्सा करने अर्थात् रात दिन तोप, बन्दूक, डायनामेट के गोलों के बनाने पर भी अपने स्वास्थ्य पर भरोसा नहीं अर्थात् अपनी अवस्था पर भरोसा नहीं, क्योंकि यदि वर्तमान अवस्था संतोषप्रद होती तो लोग औषधि बन्द कर देते। परन्तु ऐसा नहीं, वहाँ तो भयकारी अस्त्र शस्त्रों क आविष्कार में अटूट प्रयत्न हो रहा है। वहाँ ऐसे समूह उत्पन्न हो गये ह जो दिन रात दूसरों के प्राण लेने की चिन्ता में रहते हैं। किसी देश में नेशनलिस्ट (जातीयता स्थापक) कहीं अनारकिस्ट (राजविद्रोही) हैं और कभी रूस के जार को मार डालने की चेष्टा प्रकट होती है और आस्ट्रिया की महारानी मार डाली जाती है। क्या यह समूह ऐसी सभ्यता के फल नहीं हैं जिसका अनुकरण कि हमारे आय भाई करना चाहते हैं ? परमात्मा ने सब पदार्थ संसार में एक आवश्यकतानुसार उत्पन्न किए हैं जिनसे कि अधिक कर देना मनुष्य की शक्ति से परे है। यदि मनुष्य धार्मिक होते तो जितने पदार्थ हैं उन्हीं पर सन्तोष करते, परन्तु मनुष्य ने तो उनकी आवश्यकताओं को इतना बढ़ा दिया है कि उनकी इच्छानुसार पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते और आवश्यकता

प्रत्येक मनुष्य की वढी हुई है। अतः अब सब यह प्रयत्न कर रहे हैं कि हम सबसे छीन कर अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करें। जब प्रत्येक मनुष्य की यह दशा है कि वह दूसरों का द्रव्य छीनने के लिए प्रस्तुत है। अब जो बुद्धि और धोके से छीन सकता है वह उससे अपना काम चलाता है और जो वल और शक्ति द्वारा हड़प कर सकता है वह इस प्रकार अपनी अर्थ सिद्धि करता है। क्या कोई मनुष्य कह सकता है कि वर्तमान अवस्था किसी प्रकार मनुष्यों को चैन से बैठने देगी ? कभी नहीं! वह दिन दूर नहीं जबकि मनुष्य के पापों का पात्र भर जावे और स्वार्थी मनुष्य अपनी अज्ञानता का फल भोगें। जिस यूरोप में शान्ति की ऐसी भयानक दशा हो कि किसी महाराजा को भी यह विश्वास न हो कि न जाने किस समय युद्ध आरम्भ हो जावे और सम्पूर्ण उन्नति नाश को प्राप्त हो जावे ! भारतीय लोगों को उसी यूरोप का अनुकरण करना वता रहा है कि यहाँ भी वही दशा होने वाली है। यह विचार कि भारतवर्ष भी यूराप की भांति सभ्य हो जाय दूर से उत्तम लगता है परन्तु इसका वास्तविक अर्थ सोचते ही भय लगता है क्योंकि इस सभ्यता का अर्थ यह है कि शान्ति असम्भव हो जाय और प्रति क्षण डर लगा रहे। भारत की प्राचीन रीतियों पर जिन मनुष्यों ने ध्यानपूर्वक विचार किया है वह जानते हैं कि भारत की यह दशा जिसे नवीन सभ्यता के बावू असभ्य दशा वताते हैं, यूरोप की सभ्यता की अवस्था से लाख दर्जे उत्तम है, क्योंकि गुरुकुल की शिक्षा के समय विद्यार्थी की आवश्यकताएँ इतनी सीमावद्ध कर दी जाती थीं और वह तदनुसार कार्य करने से इस योग्य हो जाता था कि संसार में कोई दुःख उसके चित्त पर अधिकार नहीं जमा सकता था। यदि महाराजा रामचन्द्र आज कल के नवाव और राजाओं की भांति यही शिक्षा पाते तो उनमें कभी यह शक्ति न होती कि पिता की आज्ञा पालन कर राज पाट छोड़ कर वन को चल देते और लका तक सेतु बांध कर रावण पर जय प्राप्त कर सकते। यह उसी शिक्षा प्रणाली का फल था कि महाराजा रामचन्द्र का आत्मा इतना निडर था कि कोई भयकारी वस्तु भी उनको इरादे से गिरा न सकती थी। उसी शिक्षा

का फल था कि युधिष्ठिरादि पांचों भाई बारह वर्ष तक वन में रहे, परन्तु उन्हें कोई कष्ट न मालूम हुआ। यदि आज कल के किसी राजा, नवाब तो क्या रईस के पुत्र को भी इस अवस्था में रहना पड़े तो उसकी ज्ञानशक्ति नष्ट हो जावे।

अविद्या का तीसरा अङ्ग बड़े वेग से भारत में आजकल काम कर रहा है। मनुष्य नौकरी अर्थात् दासत्व को सुख समझते हैं। विषयों की अधिकता को सभ्यता समझते हैं। मनुष्य विषयों से मुक्त होकर सुख प्राप्त करे इसके स्थान पर शिक्षा दी जाती है कि मनुष्य विषय भोग के साधन प्राप्त करे। ससार का भयानक आकर्षण तो प्रकट हो गया है। यह प्रत्येक निर्बलात्मा के चित्त को अपनी ओर खींच कर उसे मनुष्य के कर्तव्यों से गिरा कर पशु बना रहा है, परन्तु तिसके ऊपर इस प्रकार की बुद्धि विरुद्ध शिक्षा का प्रचार और देश वासियों का यूरोप के अनुकरण के लिए कटिबद्ध हो जाना स्पष्ट बता रहा है कि भारतवर्ष में अविद्या के तीसरे अङ्ग ने प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क पर अपना पूर्ण प्रभाव डाल दिया है। अब इसका अविद्या से निकल कर सुख की ओर जाना अति कठिन है। यावत् आत्मिक बलधारी मनुष्य उत्पन्न न हों तावत् भारतवर्ष का उद्धार इस अविद्या से होना असंभव है और आत्मिक बल जिस शिक्षा से उत्पन्न होता है वह शिक्षा हमारे देश में आज कल तनिक भी नहीं है क्योंकि मनुष्य कर्म के पूर्व फल की इच्छा करते हैं और यह असम्भव बात है कि वृक्ष पीछे बोये जायें और फल पहिले ही लग जावें। आज कल मनुष्यों के भाव ऐसे निर्बल हो गए हैं कि रोटी कमाने ही को परम भाग्य का फल समझते हैं। जिसके पास साधारण विषयों के साधन हों उसके प्रमाद की तो सीमा ही नहीं, क्योंकि उससे बढ़ कर संसार में कोई जन्मा ही नहीं। भारत के दुर्भाग्य से मनुष्यों की बुद्धि ऐसी बिगड़ गई कि धार्मिक संस्थाओं के सभ्य भी धन ही को सुख और काम चलाने का कारण समझ रहे हैं। जब यह दशा है तो आत्मिक बल कहां से हो सकता है और जब आत्मिक बल नहीं तो इस अविद्या को दूर करना अत्यन्त कठिन है। जो मनुष्य इन्द्रिय, मन और

अहंकार को जीत कर अपने अधिकार में ला सकते हैं, वही इस अविद्या को नाश कर सच्चे सुख को प्राप्त कर सकते हैं अन्यथा सच्चे सुख का मिलना बहुत दुर्लभ नहीं है वरन् असम्भव है। सुतराम् प्रत्येक आर्य पुरुष का धर्म है कि वह ससार के विषयों की वासना को छोड़ कर ब्रह्मानन्द की इच्छा में लगे अन्यथा मृत्यु आ जायगी और संसार के सम्पूर्ण सम्बन्ध छोड़ कर अधर्म का फल भोगने के निमित्त पशु योनि में जाना पड़ेगा, क्योंकि अविद्या का फल उन्हीं योनियों में भोगना पड़ता है।

देह ब्रह्माण्ड का नक्शा है

यदि संसार में ध्यानपूर्वक विचार करें तो सम्पूर्ण वस्तु तीन के अन्तर्गत दिखाई पड़ती हैं। प्रथम वह जिसे सुख दुःख प्रतीत होता है, दूसरी जो सुख का कारण है और तीसरी जा दुःख का कारण है। अब सुख और दुःख दो विरोधी गुण हैं, जो कि एक ही गुणी में नहीं हो सकते, इसलिए यदि सुख और दुःख अनुभव करने वाले जीवात्मा का गुण सुख माना जावे तो सुख का नाश किसी दशा में नहीं हो सकता जिस समय तक कि जीवात्मा का नाश न हो। यहां प्रतिपक्षी प्रश्न करता है कि जिस प्रकार जल का गुण शीतलता है परन्तु अग्नि के सम्पर्क से जल उष्णता को प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार जीवात्मा स्वयं सुख स्वरूप है परन्तु माया के सम्पर्क से दुःखी हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि की उष्णता जल की शीतलता को ढांप लेती है इसी प्रकार माया की परतंत्रता जो दुःख स्वरूप है जींवात्मा के आनन्द को ढांप लेती है जिससे जीव अपने को दुःखी प्रतीत करता है। परन्तु प्रतिपक्षी का यह दृष्टांत समूल मिथ्या है, क्योंकि आवरण दो द्रव्यों के बीच में होता है, गुण और गुणी के बीच में नहीं होता। उदाहरणार्थ जल एक द्रव्य है जिसका गुण शीतलता है और त्वचा एक दूसरा द्रव्य है जिसे शीतलता तथा उष्णता का ज्ञान होता है ऐसी दशा में अग्नि का आवरण त्वचा और जल के बीच में हो सकता है। परन्तु जब सुख द्रव्य नहीं वरन् जीव का गुण है तो जीव और सुख के बीच में माया का आवरण आना असम्भव है।

दूसरे नैमित्तिक गुण सूक्ष्म पदार्थ का स्थूल पदार्थ में आया करता है, अग्नि जल से सूक्ष्म है अतः अग्नि की उष्णता जल में प्रतीत होती है। परन्तु माया अर्थात् प्रकृति जीव की अपेक्षा स्थूल है अतः न तो वह जीव में आ सकती है और न जीव और सुख के बीच में आवरण हो सकती है। सुतराम् जीवात्मा स्वयं सुख रहित है और प्रकृति परतंत्र अर्थात् दुःख स्वरूप है और परमात्मा सुख स्वरूप है। जब जीव प्रकृति की उपासना करता है, जैसा कि जागृति अवस्था में नित्य देखता है तभी अपने को दुःखी पाता है और जब परमात्मा की उपासना करता है तब सुख का अनुभव करता है, जैसा कि समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति अवस्था में होता है। प्रकृति के बने हुए दो शरीर हैं जो स्थूल और सूक्ष्म शरीर के नाम से प्रसिद्ध हैं, तीसरी प्रकृति स्वयं कारण शरीर कहाती है। इन तीनों शरीरों के भीतर दो पुरुष अर्थात् जीव और ब्रह्म रहते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का निवास स्थान है और यह शरीर जो जगत् का नकशा (चित्र) है जीव के काम करने का स्थान है। जिस प्रकार जीव इस सम्पूर्ण शरीर को नियमपूर्वक चलाता है उसी प्रकार ब्रह्म समस्त संसार को। जितनी विद्याएं जगत् में हैं वह सम्पूर्ण इस शरीर में सूक्ष्म रूप से हैं। इसी कारण योगी समाधि द्वारा इस शरीर के भीतर सब विद्याओं को देखता हैं। महर्षि कपिल जी ने इस नक्शे को इस सूत्र मे दिखाया है :—

सत्व रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारोऽहंकारात् पाञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्च तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पंच विंशतिर्गुणाः । सां० ॥ १।६१ ॥

अर्थ—सत् अर्थात् प्रकाश स्वरूप अर्थात् अग्नि रज जो न प्रकाश करे और न ढांपे अर्थात् जल, वायु, आकाश, काल और दिशा और तम जो ढांपे अर्थात् पृथ्वी इन सब की कारण दशा को प्रकृति अर्थात् कारण शरीर कहते हैं। उस दशा का नाम प्रकृति इसलिए है कि कारण अवस्था में उनमें विरोध नहीं प्रतीत होता केवल मिश्रित अवस्था में एक दूसरे के नाशक होते हैं, जिस प्रकार अब पृथ्वी प्रकाश को ढांपती है; परन्तु ऐसी परमाणु दशा में

नहीं होती। उस कारण रूप प्रकृति से स्थूल महत्तत्त्व अर्थात् मन बनता है। बहुत से मनुष्य महत्तत्व का अर्थ बुद्धि करते हैं परन्तु यह समूल असत्य है, क्योंकि महत्तत्व द्रव्य है बुद्धि गुण है। महत्तत्त्व का अर्थ बुद्धि करने से शास्त्रों में विरोध पैदा करने के अतिरिक्त सांख्य की व्यवस्था भी ठीक नहीं हो सकती क्योंकि सांख्यकार स्वयं महत् का अर्थ मन करते हैं। देखो सांख्य दर्शन अध्याय १ सूत्र ७१:—

"महादाख्यमाद्यं कार्य्यं तन्मनः" ॥

अर्थ — "महत् नाम प्रकृति का पहिला कार्य मन है" यद्यपि विज्ञानभिक्षु आदिक ने यहां भी मन का अर्थ बुद्धि ही किया है जो कदापि सत्य नहीं हो सकता क्योंकि बुद्धि गुण है वह प्रकृति का कार्य नहीं हो सकती। प्रकृति का कार्य्य द्रव्य होगा और मन द्रव्य है अतः मन का अर्थ खेंचतान कर बुद्धि करना यथार्थ नहीं। बहुधा मनुष्य कहेंगे कि यद्यपि न्याय और वैशेषिक शास्त्र की सम्मति में बुद्धि गुण है तथापि कपिल मुनि ने उसे द्रव्य माना हो तो तुम क्या कहोगे ? ऐसा कहने वाले सांख्य शास्त्र से नितान्त अनभिज्ञ हैं क्यों कि सांख्य में भी बुद्धि को गुण बताया है।

अध्यवसायो बुद्धिः ॥ सां० २। १३ ॥

अर्थ :—"अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान का नाम बुद्धि है" साथ ही बुद्धि को द्रव्य मानने से सांख्य शास्त्र की सम्पूर्ण व्यवस्था ही बिगड़ जाती है, इसको पूर्णतया इस ट्रैक्ट में दिखा नहीं सकते, क्योंकि पचासों सूत्रों में गड़बड़ मचेगी, परन्तु थोड़ा आगे वर्णन करेंगे। मन से अहंकार उत्पन्न हुआ और अहंकार से पाँच तन्मात्रा अर्थात् रूप, रस गन्ध, स्पर्श और शब्द इन गुणों के गुणी पृथक हो गए और पाँच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां यह सब सत्रह मिलकर अर्थात् मन, अहंकार, पांच तन्मात्रा और दस इन्द्रियां सूक्ष्म शरीर अथवा लिंग शरीर कहाता है।

परन्तु यदि बुद्धि को द्रव्य मानकर लिंग शरीर में सम्मिलित किया जावे तो लिंग शरीर सत्रह के बदले अठारह का हो जायगा परन्तु, १८ वस्तुओं

के बने हुए का नाम (लिंग) शरीर किसी आचार्य ने नहीं माना और कपिल मुनि जी के तो सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि उन्होंने स्वयं लिखा है :—

"सप्तदशैकलिंगम्" सां० ३ । ९ ॥

अर्थ—"सत्रह वस्तुओं के संघात से बने हुए का नाम लिंग शरीर है"

आर्य लोग कहेंगे कि जब कि सत्यार्थ प्रकाश में भी महत् का अर्थ बुद्धि किया है तो तुम्हारी बात को कैसे मान लेवें। परन्तु ऐसे आर्य पुरुष वही होंगे जिन्होंने ऋषि दयानंद की पुस्तकों के सम्बन्ध में खोज नहीं की। स्वामी दयानन्द की पुस्तकों में भीमसेन आदिक पण्डितों की कृपा से जितनी अशुद्धियां हुई हैं, जिनको ऋषि दयानन्द ने छपी हुई दशा में देखा भी नहीं, पहिला सत्यार्थ प्रकाश जो स्वामी जी के जीवन काल में छपा उसमें बहुत कुछ गड़बड़ हुई जिसकी विज्ञप्ति उन्होंने स्वयं यजुर्वेद भाष्य के प्रथम अंक में छाप दी थी और दूसरी बार सत्यार्थ प्रकाश के प्रेस से निकलने के बहुत दिन पूर्व स्वामी जी का परलोक-गमन हो चुका था, इसलिए उनका अशुद्धि पत्र वह न बना सके और पंडितजनों के शास्त्रों को विचारे हुए न होने के कारण सूत्रों का अनुवाद वैसा ही कर दिया जैसा कि प्राचीन टीकाओं में लिखा हुआ था क्योंकि स्वामी जी के विचारों को जानने वाला मनुष्य यह कभी नहीं मान सकता कि स्वामी दयानन्द जीव और ब्रह्म को एक मानने वाले हों परन्तु इस सूत्र के अनुवाद से एक ही सिद्ध होते हैं। जैसा कि लिखा है कि पचीसवां पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर है क्योंकि सांख्य ने २५ पदार्थ माने हैं, उनमें से १ प्रकृति कारण शरीर, १७ का लिंग शरीर, ५ का (पाँच भूतों) का स्थूल शरीर, यह सब मिलकर २३ होते हैं। हां पुरुष में जीव और ब्रह्म लेने से पूरे पच्चीस हो जाते हैं। परन्तु बुद्धि को जोड़ने से २६ हो जाते हैं अन्यथा जीव और ब्रह्म को एक पदार्थ मानना पड़ता है। बहुधा मनुष्य कहेंगे कि पुरुष शब्द में एक वचन क्यों आया है? इसका तात्पर्य यह है कि पुरुष शब्द के दो अर्थ हैं, एक जीव दूसरा ब्रह्म। अब जीव और ब्रह्म एक जाति के नहीं जिनका द्विवचन लिखते, वरन जब पुरुष

का अर्थ जीव किया तब वह जाति को ध्यान में रखते हुए एक ही हैं और जब ब्रह्म किया तो वह स्वरूप से एक था अतः दोनों के लिए एक वचन ही उचित था। यदि महर्षि कपिल एक ही पुरुष मानने वाले होते तो वह पुरुष को बहुत न मानते, जैसा कि उन्होंने लिखा है :—

"जन्मादि व्यवस्थातः पुरुष बहुत्वम् ॥ सां० १।१४९

अर्थ—कोई पुरुष जन्म ले रहा है, कोई मर रहा है, कोई दुःख भोग रहा है, कोई सुख, और कोई बंधन में फंसा हुआ है और कोई मुक्त इसलिए पुरुष अर्थात् जीव बहुत है। बहुधा मनुष्य कहते हैं कि जीव और ब्रह्म को यदि जाति से एक वचन मान लें तो क्या हानि है ? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो ब्रह्म में जाति का प्रयोग नहीं हो सकता क्योंकि जाति बहुत वस्तुओं में रहा करती हैं एक में नहीं, ब्रह्म एक है अब जब ब्रह्म और जीव भिन्न-भिन्न गुण वाले हैं तो उनको एक जाति किस प्रकार कह सकते हैं। शास्त्रों के टीकाकारों की यह दशा है कि एक चूक जावे तो सब चूकते चले जाते हैं, उसकी चूक को सुधारते नहीं इस अशुद्धि के जन्मदाता सांख्य तत्त्व कौमुदीकार थे जिसने कि उस श्रुति का पाठ जिससे तीन अनादि पदार्थ सिद्ध होते हैं बदल कर ऐसा कर दिया जिससे पुरुष और प्रकृति दो ही अनादि सिद्ध हों और इसलिए उसको ब्रह्म के स्थान पर एक और गढ़ा हुआ पदार्थ बुद्धि घुसेड़ना पड़ा। उसी की कृपा से बहुधा मनुष्य महर्षि कपिल को नास्तिक बताते थे। विज्ञानभिक्षु आदि समस्त टीकाकारों ने उसका अनुकरण किया और जहां कोई ऐसा वाक्य मिला जिससे इनका अर्थ अशुद्ध दीखे उस पद का अर्थ भी बदल दिया। यद्यपि सूत्रकार ने स्पष्टतया प्रकृति का प्रथम कार्य महत् अर्थात मन बताया था परन्तु विज्ञानभिक्षु ने मन का अर्थ भी बुद्धि कर दिया। क्या सूत्रकार को बुद्धि शब्द लिखना नहीं आता था कि वह बुद्धि के स्थान पर मन लिखते। सूत्रकार तो बुद्धि को द्रव्य नहीं मानते, वरन गुण बताते थे परन्तु प्रकृति का कार्य होने से बुद्धि द्रव्य होती अतः उन्होंने मन जो कि द्रव्य था स्पष्टतया कहा परन्तु किसी ने नास्तिकपन से बुद्धि को द्रव्य बता कर ब्रह्म को उड़ाय

और अन्य गूढ़ विचार न करने वालों ने उन्हीं का अनुकरण किया, यहां तक कि स्वामी हरिप्रसाद ने जो वैदिक वृत्ति नाम करके एक टीका लिखी है उसमें भी इन परम्परा से चली आने वाली अशुद्धियों का कोई विचार नहीं किया।

हमारी समझ में जब तक आगे पीछे के सूत्रों की व्यवस्था ठीक न करली जावे तब तक किसी को शास्त्रों की वृत्ति लिखने का अधिकार नहीं।

हमने तो स्वामी जी का ऊपर नाम और उसके साथ उपाधि देख कर ही इस वृत्ति की अवस्था को समझ लिया था क्योंकि उन को वह उपाधि किसी सभा सोसायटी की ओर से मिली हुई नहीं। वास्तव में इस सूत्र में ऋषि ने तीन शरीर जो प्रकृति की दशा है और दो पुरुष बना कर इस देह को ब्रह्माण्ड का चित्र बताया है। प्रकृति का कारण शरीर मन अहं-कार रूप, रस, गंध, स्पर्श शब्द और इनके साधन नेत्र, नासिका, श्रवण रसना और त्वचा पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा हाथ, पांव, जिह्वा, उपस्थ और गुदा यह पांच कर्मेन्द्रियं यह सब १७ वस्तु मिलकर 'लिंग शरीर' कहा जाता है। पृथ्वी, जल अग्नि, वायु और आकाश—यह स्थूल शरीर, देह में रहने वाला जीव और समस्त ब्रह्माण्ड के शरीर में रहने वाला ईश्वर है। यद्यपि इस अवसर पर और भी विशेष लिखने की आवश्यकता थी परन्तु यह पुस्तक छोटी और विचार अधिक होने कारण संक्षेप से ही वर्णन किया गया है। हमारे पाठकगण स्वय इस न्यूनता को विचार कर पूरा करलें अथवा हमें यदि कभी अवसर मिला तो बड़ी पुस्तक के रूप में उपस्थित करेंगे।

—०—

पाप और पुण्य

संसार में इस बात को प्रत्येक मनुष्य मानता है कि प्रत्येक मनुष्य को दुःख और सुख होता है जिसको हम प्रत्यक्ष देखते हैं, परन्तु उसके कारणों को जानने वाले बहुत ही थोड़े मनुष्य हैं। यद्यपि प्रत्येक मनुष्य सुख की इच्छा और दुःख से घृणा करता है तथापि सुख के कारण यथार्थ रूप से न जानने से वह सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है और न दुःख से पीछा छुड़ा सकता है। यही कारण है कि पूर्ण प्रयत्न करने पर भी समस्त संसार के मनुष्य दुःख भोग रहे हैं। जब हम शास्त्रकारों से दुःख का कारण पूछते हैं तो वह हमें दुःख को पाप का फल बताते हैं, और जब हम सुख के सम्बन्ध प्रश्न करते हैं तो वह हमें उसे पुण्य का फल बताते हैं। मानो दुःख और सुख के कारण पाप और पुण्य हैं। ऐसी दशा में हमारा कर्त्तव्य है कि पाप और पुण्य के स्वरूप को हम जानें। गौतम सूत्र के भाष्य में महात्मा वात्स्यायन ने पाप की यह टीका की है:—

"दोषैः प्रयुक्त शरीरेण प्रवर्त्तमानो हिंसास्तेय प्रतिषिद्ध मैथुनान्याचरति वाचाऽनृन परुषयूचना सम्बद्धानि मनसा परद्रोहं पर द्रव्याभोगा नास्ति क्यश्चेति सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिर्द्धर्माय" ॥

अर्थ—"राग द्वेष आदिक दोषों में फंसकर देह से हिंसा, चोरी और व्यभिचारादि करता है, जिह्वा से मिथ्या भाषण तथा दूसरों की निन्दादिक करता है और मन से पराई हानि करने का विचार, पराये धन की इच्छा तथा नास्तिकता अर्थात् ईश्वरीय आज्ञा को भंग करना इत्यादि करता है, यह पाप से युक्त प्रवृत्ति अधर्म के लिये होती है।

और पुण्य का यह लक्षण कहा है :—

"अथ शुभ शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणञ्च वाचा सत्यहितं प्रियं स्वाध्यायञ्चेति। मनसा दयामत्सरश्रद्धाञ्चेति सेयं धर्माय" ॥

अर्थः— शुभ प्रवृत्ति यह है कि शरीर से दान देना, दूसरे की रक्षा करना, तथा दूसरों की सेवा करना, जीभ से सत्य बोलना, दूसरे के हित का उपदेश करना तथा वेद का पढना और मन से दया करना, लोभ का त्याग तथा श्रद्धा यह धर्म के लिये होते हैं।

यद्यपि महात्मा वात्स्यायन के इस लेख से पाप और पुण्य की व्याख्या हो गई परन्तु लक्षण यहाँ से भी नहीं मिला। अतः स्मृतिकारों का यह वाक्य स्पष्ट शब्दों में पाप और पुण्य के लक्षण का वर्णन करता है:—

"वेद प्रतिपादितो धर्म्मः अधर्मस्तद्विपर्यय:" ।

अर्थः—जिस काम को वेद ने बताया हो अथवा (वेद शब्द से ज्ञान अर्थ लेकर) जो ज्ञान के अनुकूल हो वह धर्म है और जो वेद के प्रतिकूल वह अधर्म है। महात्मा जैमिनि ने भी मीमांसा दर्शन में धर्म का ऐसा ही लक्षण किया है।

"चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः" ॥

अर्थः—जिस कर्त्तव्य में अर्थात् जिस कार्य के करने में वेद की आज्ञा है वही धर्म है और जो धर्म के प्रतिकूल होगा वह अधर्म होगा यह स्पष्ट है ही। अब वेद ने मनुष्य को मोक्ष के निमित्त परमात्मा के जानने का उपदेश किया है और उसके लिये जिन साधनों की आवश्यकता है उसे बताया है। सुतराम् जो काम परमात्मा के जानने में सहायक है वह धर्म अर्थात् पुण्य और जो परमात्मा के जानने में रुकावट डालने वाले हैं वह अधर्म अर्थात् पाप हैं। अब सोचना चाहिये कि परमात्मा को किस प्रकार हम जान सकते हैं? परमात्मा हम से दूर नहीं जिस के लिये चलने की आवश्यकता हो वरन् वह हमारे अत्यन्त निकट अर्थात् हमारे बाहर और भीतर प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है। यदि कहो कि हम उसे जान क्यों नहीं सकते तो इसका यह उत्तर है कि जिस प्रकार अञ्जन नेत्रों के बहुत ही निकट होता है परन्तु नेत्र जो सब पदार्थों को देखते हैं उसे नहीं देख सकते इसी प्रकार जीवात्मा सम्पूर्ण पदार्थों को जान सकता

है परन्तु अपने अतिसमीपवर्त्ती परमात्मा को नहीं जान सकता और जिस प्रकार उसे अञ्जन के देखने के लिये दर्पण की आवश्यकता है, इसी प्रकार परमात्मा के देखने के लिये भी एक दर्पण की आवश्यकता है जो कि परमात्मा ने मन के नाम से हमको दिया है। परन्तु दर्पण के मलिन होने से स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और शुद्ध होने से होता है। इसी प्रकार मन के मलीन होने से परमात्मा का ज्ञान नहीं होता वरन् उस के शुद्ध होने से होता है। पुनराम् जो वस्तु मन में अशुद्धि उत्पन्न करे, उनका संग करना पाप है और जो काम मन को शुद्ध करें उनका करना पुण्य है। मन को मलिन करने वाली चमकीली वस्तुओं की इच्छा है, जिसके कारण कि मन शुद्ध नही हो सकता। महात्मा मनु ने मन की शुद्धि का कारण सत्य को माना है जैसा कि उन्होंने लिखा है :—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्या तपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥

अर्थ—जल से शरीर पवित्र होता है, सत्य बोलने तथा सत्याचरण करने से मन शुद्ध होता है।

अब विचारना यह है कि जब सत्य से मन शुद्ध होता है तो हम सत्य से किस प्रकार पृथक् हो गये हैं। क्या हमें यह ज्ञान ही नहीं कि सत्य ही हमारे मन को शुद्ध करने वाला है। अथवा और कोई रुकावट है जो हमें सत्य से पृथक् रखती है। यह तो प्रत्येक मनुष्य कहता हुआ दिखाई देता है कि सांच को आँच नहीं, और शास्त्रों में भी सत्य के सम्बन्ध में भली प्रकार लिखा हुआ है और देखिये फारसी का कवि सादी भी कहता कि :—

"रास्ती मूजिबे रजाय खुदास्त।
कसनदीदमकि गुम शुदज़ रहेरास्त॥"

अर्थात्—सत्य परमात्मा के प्रसन्न होने। का कारण है किसी को नहीं देखा कि सीधे रास्ते से भूल गया हो, अब प्रकट हुआ कि सत्य के गुणों से तो प्रत्येक मनुष्य विज्ञ है परन्तु कोई रुकावट ऐसी अवश्य है जिसके कारण हम

सत्य से दूर जा पड़ें हैं। इस रुकावट का वर्णन वेदों में स्पष्ट रीति से किया गया है। देखो यजुर्वेद अध्याय ४० में—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्म्माय दृष्टये। १।

अर्थः—चमकीली वस्तुओं की इच्छा के वर्नन से सत्य का मुख ढका हुआ है। यदि तुम अपनी उन्नति करना चाहते हो तो उस पर्दे को उठा डालो अर्थात् चमकीली वस्तुओ की इच्छा छोड़ दो।

चमकीली वस्तुओं की इच्छा जिस का नाम लोभ तथा काम है, जिन से मोह उत्पन्न होता है, सत्य से पृथक् करने वाली हैं। यावत् अहंकार, लोभ तथा मोह रहेंगे तावत् मनुष्य सत्य को नहीं प्राप्त कर सकता। इनमें से भी लोभ सब से प्रबल है। यद्यपि काम के समान मनुष्य का शत्रु कोई नहीं, तथापि इन्द्रियों के शिथिल एवं विशेष रोग ग्रसित हो जाने पर काम की इच्छा जाती रहती है परन्तु लोभ उस समय भी बढ़ता ही जाता है। अतः मनुष्य का सब से प्रबल शत्रु लोभ है। इसी कारण महात्मा मनु ने सब शुद्धियों में से अर्थ शुद्धि को ही विशेष उत्तम माना है। जैसा कि लिखा है:—

सर्वेषामेव शुद्धीनामर्थशुद्धिर्विशिष्यते॥

अर्थः—सर्व प्रकार की शुद्धियों में अर्थ शुद्धि अर्थात् लोभ-रहित होना विशेष है। और परमात्मा ने वेद में भी इस बात का उपदेश किया है—देखो यजुर्वेद अध्याय ४० का प्रथम मन्त्र जिसमें दूसरों के धन लेने को वरजा है—काम, लोभ और मोह यह तीनों प्राकृतिक पदार्थों के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं और जिस समय जीव प्राकृतिक पदार्थों से पृथक् होते हैं उस समय में इनमें से कोई भी नहीं रहता। इससे विदित हुआ कि पाप का मूल तो प्राकृतिक पदार्थों का संग है। जिस समय मनुष्य की इन्द्रियाँ, जो प्रकृति का कार्य होने से प्रकृति से बने हुए पदार्थों को ही देख सकती हैं जागृत अवस्था में कार्य करती हैं उसी समय काम, लोभ और मोह उत्पन्न होते हैं और जिस समय सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा का इनसे सम्बन्ध टूट जाता है अर्थात्

वह इन्द्रियों से प्राकृतिक पदार्थ का देखना बन्द कर देता है उस समय काम, लोभ और मोह लेशमात्र भी उत्पन्न नहीं हो सकते। इससे पता चला कि मन में मैल प्राकृतिक पदार्थों के संग से आता है। जिस समय जीव प्राकृतिक पदार्थों की इच्छा को दूर कर दे तब उस समय उसको किसी प्रकार का कष्ट हो ही नहीं सकता। परन्तु जीव चेतन अर्थात् ज्ञान वाला है। वह कभी भी ज्ञान से शून्य नहीं रह सकता। यदि वह, ऐसी दशा में प्राकृतिक पदार्थों का संग न करे तो क्या करे ? इसका उत्तर यह है कि मन, जो प्राकृतिक पदार्थों के प्रतिकूल परमात्मा का संग करता है उसी का संग करे। प्रश्न उठता है कि मनुष्य की इन्द्रियाँ तो अपने स्वाभाविक काम को नहीं छोड़ सकतीं ? और इन का सम्बन्ध प्राकृतिक पदार्थों से ही होगा। इसका उत्तर यह है कि यदि आत्मा इन्द्रियों के विषयों को अपने मनमाने वरन् उसको इन्द्रियों का धर्म समझ कर इन्द्रियों की आवश्यकताओं से हटाकर परोपकार में लगाये और प्रत्येक समय यही ध्यान रखे कि यह परमात्मा की आज्ञा है अथवा संसार में जो ब्रह्म की शक्ति से नाना प्रकार के देहधारी उत्पन्न होते हैं उनमें प्रेम करने के स्थान में उनके बनाने वाले की कारीगरी का विचार करता रहे तो ऐसी दशा में जीव को इन्द्रियों का प्रकृति से सम्बन्ध हानिकारक न हो कर लाभकारी होगा, क्योंकि चेतन जीवात्मा के संकल्पानुसार ही उस पर प्रभाव पड़ता है।

उदाहरणार्थ एक मनुष्य सिंह को इस उद्देश्य से मारता है कि उसका मांस खाये तो वह मनुष्य पाप करता है, परन्तु दूसरा जो कि उसे जीवों की रक्षा के निमित्त मारता है पुण्य करता है। क्योंकि जो निर्बल पशुओं को बचाने के निमित्त प्रयत्न करता है वह परमात्मा की आज्ञा का पालन करता है, परन्तु जो खाने के लिये मारता है वह प्रकृति की सेवा करता है।

परमात्मा ने जीवात्मा को बुद्धि और विद्या के द्वारा इस बात का उपदेश किया है कि वह दूसरों की रक्षा करे अथवा यों समझो कि बड़ों का

त्कार, बराबर वालों से प्रेम तथा छोटों पर दया करना मनुष्य का कर्तव्य है। जो इसके अनुसार काम करता है, वह पुण्य करता है और जो इसके विरुद्ध करता है। सो पाप करता है, सबसे बड़ा परमात्मा है, उसकी आज्ञा का पालन करना मुख्य कर्त्तव्य है। तत्पश्चात् माता, पिता, गुरु, राजा आदि तथा देवता अर्थात् विद्वान् लोग जो हमसे किसी न किसी प्रकार की महत्ता रखते हैं, उनका आदर करना भी कर्त्तव्य है। जो मनुष्य इस कर्त्तव्य को यथोचित पालन करता है वह पुण्य करता है और जो इसके विरुद्ध करता है सो पाप। जितने जीव हम से गुणों में बराबर हैं उनके साथ प्रेम करना पुण्य है परन्तु इस विचार से कि यह मेरे बराबर सम्मान प्राप्त कर चुका है कदाचित् मुझ से बढ़ जावे, उनसे द्वेष करना महान् पाप है। इसी प्रकार निर्बलों के स्वत्वों को भी ले लेना महा पाप है। जहां तक हो सके निर्बलों की सहायता करना पुण्य है। जिस प्रकार का निर्बल हो उसी प्रकार की सहायता से उसकी निर्बलता को दूर करना मनुष्यत्व है, जिस प्रकार का पदार्थ हमारे पास दूसरों से अधिक हो उसी से सहायता करना पुण्य है और दूसरों को किसी प्रकार की हानि पहुंचाना अथवा पहुंचाने का विचार करना पाप है। मनुष्य का अपनी आवश्यकताओं के लिए प्रबन्ध करना जीवन को व्यर्थ गंवाना है क्योंकि भोग के बदलने में मनुष्य स्वतन्त्र नहीं वर्त्तमान जीवन में मनुष्य जो कुछ अपने लिये करता है वह सब भोग के लिये करता है, जिसकी उन्नति व अवनति हमारे हाथ में न हो उसकी उन्नति वा अवनति में अपना समय नष्ट करना स्पष्ट अज्ञान का फल है। यही कारण है कि बहुधा मनुष्य असफलता के दुःख की भेंट चढ़ जाते हैं। यदि भोग में उस कार्य का होना है तब तो किसी न किसी प्रकार वह कार्य अवश्य ही होगा चाहे इच्छा से उसके लिये प्रयत्न करो चाहे न करो। बहुत से मनुष्यों के हृदय में यह संदेह होगा कि कर्त्तव्य और भोक्तव्य में भेद किस प्रकार हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि प्रथम जो दशा इच्छा बीज बोने के समय होती है वह दशा खाने के समय नहीं होती। जो अन्तर इन दोनों अवस्थाओं में है

वही कर्त्तव्य और भोक्तव्य में समझना चाहिये। खाने का कार्य मनुष्य को अवश्य करना पड़ेगा। यदि कोई मनुष्य चाहे कि मैं तनिक भी न खाकर जीता रह सकूं तो यह सम्भव है परन्तु बोने में मनुष्य की यह स्थिति नहीं। दूसरे खाने वाले का आधार तो मनुष्य का अपना पेट होगा परन्तु बोने वाली वस्तु का आधार पृथ्वी होगी। अर्थात जिस कार्य का निश्चयात्मक सम्बन्ध दूसरे जीवों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध रखता है वह कर्तव्य है। यदि हमारे संकल्प से दूसरे को हानि पहुंचाना है तो हम पाप कर रहे हैं, यदि लाभ पहुंचाने का विचार कर रहे हैं तो हम पुण्य कर रहे हैं। इन संकल्पों का पूरा होना हमारे अधिकार में नहीं वरन् उनके भोग से सम्बन्ध रखता है, जैसे हमने किसी को हानि पहुंचाने का विचार किया तो पापी हो चुके, परन्तु उसको हानि पहुंचना उसके भोग के वश में है यदि उसके भोग में हानि पहुंचना न हो तो केवल हमारे विचार से उसे हानि नहीं पहुंच सकती और ऐसी दशा में हमें संकल्प से सफलता प्राप्त न होगी। जहां तक विचार किया जाता है स्पष्ट विदित होता है कि कोई किसी को हानि लाभ नहीं पहुंचा सकता, वरन् अपना ही हानि लाभ कर सकता है। जो दूसरों को हानि पहुंचाने में लगा हुआ है, वास्तव में वह मन को बिगाड़ रहा है। इसी का नाम "मलदोष" है, जिसके कारण मनुष्य की विवेचन शक्ति नितान्त मारी जाती है और जो औरों को लाभ पहुंचाने की धुन में मस्त है वह अपना लाभ कर रहा है। अर्थात् उसका मन शुद्ध हो जाता है, प्रत्येक कार्य जो दूसरों के उपकार के उद्देश्य से किया जाता है हमारे उपकार का कारण होता है। अर्थात् उससे हमारा मन शुद्ध होकर परमात्मा की उपासना के योग्य हो जाता है। जो मनुष्य दूसरों को दुःख पहुंचाकर अपने सुख की आशा रखते हैं उनसे बढ़कर मूर्ख कोई नहीं क्योंकि दूसरों को हानि पहुंचाने के विचार से ही अपने को हानि अर्थात् दुःख पहुंचने का सामान पैदा हो जाता है, और जब भोग के नियत और अपरिवर्तित होने को ध्यान में रखते हुए ऐसे मनुष्यों की दया पर विचार किया जावे तो उनके मूर्ख होने में कोई सन्देह ही नहीं रहता, क्योंकि दूसरों

को हानि पहुंचाकर अपना भोग तो बदल नहीं सकते केवल आगे के लिये अपने को कांटे बोते हैं। अतः प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि औरों को सुख पहुंचाने का ध्यान, जिसका नाम पुण्य है और जिसका फल मन की शुद्धि है प्रत्येक समय रक्खे और दूसरों को हानि पहुंचाने के विचार से जो कि पाप है और जिसका फल दुःख है—सर्वदा घृणा करे।

—

पात्र

आजतक जितनी ऋषियों की पुस्तकें दिखाई देती हैं। सबमें पात्र अर्थात् अधिकारी का विचार पाया जाता है। अर्थात् जो जिस वस्तु का अधिकारी वही हो उसे देनी चाहिए अथवा जो जिस योग्य हो उससे वैसा ही बर्ताव करना उचित है। दान के लिए भी देश काल और पात्र का विचार सवसाधारण में फैला हुआ है। यद्यपि विशेषतया देश और काल का अर्थ उलटी रीति पर हो गया है अर्थात् देश के स्थान पर तीर्थ तथा काल के स्थान पर अमावस आदिक पर्व मान लिये गए हैं जो कि वास्तविक भाव के विरुद्ध है, जिसकी व्याख्या हम दूसरे स्थान पर करेंगे।

तथापि यहाँ केवल पात्र का विचार करना है। यद्यपि पात्र को भी आजकल जन्म अथवा भेष से मान लिया है परन्तु पूर्व समय में पात्र गुण और कर्म से माना जाता था। जैसे रोटी का दान किसको देना चाहिए, जिसको भूख हो और जो रोटी खाकर अपना समय दूसरों के उपकार में व्यतीत करें। विद्या के दान का अधिकारी वही समझा जाता है जिसको जानने की पूर्ण अभिलाषा हो। जिस प्रकार जुते हुए खेत में जितना पानी बरसेगा सब पृथ्वी में ही लय हो जायेगा अथवा क्षुधातुर के सम्मुख जो भोजन रखा जायेगा वह तुरन्त खा जायेगा। इसी प्रकार विद्या का जिज्ञासु पुरुष अपनी उत्कट इच्छा होने के कारण विद्या के रहस्यों को जान जायेगा। जहां तक हमें पता मिलता है प्राचीन समय का कोई ऋषि नहीं जिसने अधिकारी का विचार न किया हो, जहां महात्मा मनु ने धर्म-उपदेश का विचार किया वहीं स्पष्टतया उसका अधिकारी भी बता दिया। मनुजी कहते हैं :—

अर्थात्—जो मनुष्य धन और काम की इच्छा में फंसे हुए नहीं उन्हें धर्म के जानने का अधिकार है और धर्म के जिज्ञासुओं के लिए धर्म के जानने के लिए सबसे बड़ा प्रमाण श्रुति है। तो यों कहना चाहिए कि जो मनुष्य धन और काम के विचारों में फंसे हुए हैं उनको धर्म के जानने का अधिकार ही नहीं और अधिकारी अर्थात् योग्य नहीं उसको देने से कुछ लाभ नहीं। यदि आपको प्रत्यक्ष देखना है तो आर्य समाज की अवस्था देखकर अनुभव प्राप्त कर लीजिए। धर्मोपदेश ने आर्यसमाज की अवस्था पर क्या प्रभाव डाला? बहुत से मनुष्यों का यह विचार है कि किसी वस्तु का गुण किस प्रकार बदल सकता है वह तो प्रत्येक के लिए एकसा गुण करेगा। अतः प्रत्येक मनुष्य धर्मोपदेश का अधिकारी है। सब के उपदेश होना चाहिए। परन्तु यह विचार सत्य नहीं कि एक वस्तु के गुण भिन्न-भिन्न दो पात्रों के कारण दो प्रकार के नहीं हो जाते।

उदाहरणार्थ दही को यदि एक घण्टे तक पत्थर के पात्र में रखकर खाया जावे तो वह हानि नहीं पहुंचाता, अर्थात् उसके गुण मानवी भोज्य पदार्थ जैसे ही रहते हैं, परन्तु यदि उसी दही को आध घण्टे तक ताँबे के बर्तन में रखकर खाया जावे तो भयंकर विष हो जाता है। इस उदाहरण से पता लगता है कि एक ही दही दो बर्तनों रखकर खाने से दो विरुद्ध प्रभाव उत्पन्न करता है, एक ओर तो वह गुणकारक भोजन बनता है और दूसरी दशा में प्रणाघातक विष हो जाता है। इसी प्रकार घृत एक उत्तम एवं बलप्रद पदार्थ है, परन्तु वही घृत ज्वर के रोगी को देने से लाभ के स्थान पर विषम ज्वर उत्पन्न करने वाला हो जाता है। ऐसे और भी बहुत से उदाहरण मिलते हैं जहां अनधिकारी को देने से लाभ के बदले हानि होती है। ठीक यही दशा आज तक वैदिक धर्मोपदेश की हो रही है। कुपात्रों द्वारा उपदेश होने से शान्ति, प्रेम तथा एका फैलाने के बदले रागद्वेष तथा झगड़ों का फैलाने वाला सिद्ध होता है। जिस वैदिक धर्म का उपदेश स्वामी दयानन्द की वाणी द्वारा बहुत से धार्मिक भाव फैलाने का कारण हुआ था, उसी वैदिक धर्म का उपदेश आजकल के उपदेशकों द्वारा इन झगड़ों के फैलाने का कारण हो रहा है, जो आजकल आर्यसमाज में दीख रहे हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वर्तमान उपदेशकों द्वारा वैदिक धर्म का उपदेश हानिकारक क्यों हो रहा है ?

इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि प्रथम तो स्वयं उपदेशक ही धर्म ज्ञान के अधिकारी नहीं क्योंकि धर्म ज्ञान का अधिकार उन मनुष्यों के लिए महात्मा मनु ने माना है जो कि 'धन और काम की इच्छा न रखते हों' परन्तु वर्तमान उपदेशक धन की कैसी इच्छा रखते है इसका हाल किसी आर्य को विस्मृत न होगा। जिस समय आर्य प्रतिनिधि सभा पश्चिमोत्तर देश (अब संयुक्त प्रान्त) ने यह स्वीकार किया कि संस्कारों के अवसर पर जो दक्षिणा मिले उसमें से एक रुपया उपदेशक को दिया जावे, और शेष प्रतिनिधि सभा के कोष में पहुंचाया जावे इस प्रस्ताव के स्वीकार होते ही बड़े धर्मध्वजी उपदेशकों ने त्यागपत्र दे दिये।

आर्य-प्रतिनिधि-सभा के सभ्यों कोसंभल वाला उत्सव स्मरण होगा। प्रतिनिधि ने उपदेशकों का भ्रमण-भोजन बन्द कर दिया जिसको यह बताया जाता है कि उपदेशक व्यय अधिक कर देते थे। अस्तु इन दो बातों से सर्व साधारण को यह तो विदित हो ही गया कि उपदेशक लोग कहाँ तक धन की इच्छा रखते हैं। अब के भी एक धर्मध्वजी उपदेशक महाशय ने त्यागपत्र दे दिया, परन्तु प्रतिनिधि सभा ने पाँच रुपये बढ़ाकर फिर उपदेशक जी को प्रसन्न कर लिया है। जब कि महात्मा मनुजी के कथनानुसार उपदेशकगण धर्मज्ञान के अधिकारी ही नहीं तो वह धर्मोपदेश तो क्या कर सकते हैं, हाँ इधर उधर की उड़ाई हुई बातें अवश्य ही बड़ जोश-खरोश से वर्णन कर देते हैं और बीच बीच में ऐसे हास्यरसपूर्ण वाक्य कह जाते हैं कि जिससे कभी तो सुनने वाले बहुत ही प्रसन्न होते हैं और किसी समय तो नाटक भी मात हो जाता है। जनता तो उपदेशक जी के हास्य, ओजस्विता एव वाक्पटुता से प्रसन्न होकर घरों को पधारती है और उधर उपदेशक महोदय अपनी सफलता पर अभिमान करते हुए जाते हैं और फूले नहीं समाते।

परन्तु यदि विचार किया जावे तो प्रकट होता है कि वैदिक धर्म के विषयों की गूढ़ता का गूढ़ विचार हास्यरसपूर्ण वाक्यों के भावों के संग बह

गया और उस हृदय में वैदिक-धर्म के आदर को कोई स्थान नहीं देता। प्राचीन ऋषि लम्बे-लम्बे व्याख्यानों के स्थान पर छोटे से सूत्रों में उपदेश करते थे परन्तु दोनों (वक्ता तथा श्रोता) के अधिकारी होने के कारण उसका जैसा प्रभाव पड़ता था, आजकल के बड़े-बड़े व्याख्यानों का भी वह प्रभाव नहीं पड़ सकता, और पड़े भी क्यों ? न तो पृथ्वी ही इस योग्य है कि जिसमें समाज का बीज लग सके और न बोने वाले ही ऐसे योग्य हैं कि जिनको पृथ्वी के स्वभाव एवं बीज बोने की रीति ही ज्ञात है। अब दोनों ओर अनधिकारी ? फिर सफलता होगी कैसे ?

एक अवसर पर भावनगर (गुजरात) में एक प्रतिष्ठित हिन्दू, जो दो सौ रुपये से अधिक वेतन पर किसी राजकीय विभाग में कर्मचारी था, ईसाई होने को प्रस्तुत हो गया। वहां अजमेर आर्यसमाज से किसी को समझाने के लिए बुलाया गया। अजमेर आर्य समाज ने आर्य-प्रतिनिधि-सभा पश्चिमोत्तर देश (अब संयुक्त प्रान्त) से एक योग्य विद्वान उपदेशक मांगा। अब इस प्रतिनिधि के कार्यकर्ता गुणों के विचार में विद्या की सीमा सत्यार्थ प्रकाश भाषा 'अष्टाध्यायी' एवं कतिपय संस्कृत बोलने से आगे न हों अतः उन्होंने अपने विचारानुकूल एक विद्वान उपदेशक, जो सत्यार्थ प्रकाश की भाषा और अष्टाध्यायी भली प्रकार जानता था, तथा संस्कृत भी उत्तम बोल लेता था, अजमेर भेज दिया और वहाँ बालों ने विना सोचे विचारे उसे भावनगर भेज दिया। जब उपदेशक महाशय लौटे तो उन्होंने अपनी सफलता की बड़ी प्रशंसा की और कहा कि हमने एक योग्य पुरुष को बिगड़ने से बचा लिया, परन्तु आज हमें श्रीमान् स्वामी आत्मानन्दजी से यह सुनकर अत्यन्त शोक हुआ कि वह योग्य पुरुष ईसाई हो गया है। आर्य समाज से निराश होकर ईसाई होना आर्य समाज की प्रतिष्ठा को और भी बिगाड़ने वाला है। यदि आर्यसमाज से उपदेशक वहां न पहुंचते और वह ईसाई हो जाता तो इतने शोक का स्थान न था, परन्तु आर्यसमाज को समाचार मिल जाने तथा उपदेशक के पहुंचने पर भी ईसाई हो जाना अत्यन्त शोककारक घटना है। परन्तु क्या किया जावे जिनके हाथ में प्रबन्ध है प्रथम तो वह नितान्त अनभिज्ञ, दूसरे

पक्षपात से ऐसी पार्टी बंध गई है कि आर्यसमाजों को यथार्थ विवरण का जानना ही कठिन है। और यह सब घटनायें तथा बिगाड़ ऋषियों ने प्रत्येक की सम्मति के अनुकूल कार्य न करने का फल है क्योंकि ऋषियों कार्य के लिए अधिकारी का विचार आवश्यक समझा था। परन्तु हम लोगों ने इसे निरन्तर ही छोड़ दिया, कोई मनुष्य जिसे अंग्रेजी की योग्यता तनिक भी नहीं उसका नाम हम बाबू साहिब रख कर यदि उसे किसी काम पर लगा दें तो क्या फल होगा ? सफलता कभी न प्राप्त होगी। यही विचार कर इस समय के ऋषि दयानन्द ने भी अपने नियमों में यथायोग्य शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु आर्य भाइयों ने अपने अज्ञान से इस आवश्यक बात की उपेक्षा की जिसका फल आर्यसमाज की खेंचातानी है। यदि आर्यसमाज में थोड़े दिन और यही दशा रही तो यह भी वैदिक धर्म होने की जगह एक सम्प्रदाय हो जायगा। आर्यसमाजों में जितना झगड़ा फैलता जाता है उसका बड़ा कारण भिन्न-भिन्न फण्ड, अनधिकारी उपदेशक, एवं नकली और फसली आर्यों का सम्मिलित होना है। नकली और फसली वे लोग हैं जिनके हृदय में धर्म से अधिक बिरादरी, मुक्ति से अधिक नौकरी और आध्यात्मिकोन्नति से अधिक रोटी की इच्छा है, जो ईश्वर पर भरोसा रखने को मूर्खता तथा द्रव्य पर विश्वास रखने को विद्वत्ता समझते हैं।

यदि आर्य समाज में स्वामी जी के सिद्धान्त एवं उसके अधिकारी और अनधिकारी का विचार रहता तो आज तक वैदिक धर्म का झंडा सम्पूर्ण संसार में फैल गया होता। इस समय वैदिक धर्म प्रचार के अनुकूल सब साधन विद्यमान हैं। गवर्नमेंट की ओर से धर्म प्रचार में शान्ति एवं स्वतन्त्रता का होना, पुस्तकों के विस्तार के लिए यन्त्रालयों का होना, प्रसिद्ध करने के लिए पत्रों का होना, उपदेशकों के भ्रमण के लिए रेलगाड़ी अथवा पक्की सड़कों का होना, तथा उपदेशकों के बुलाने के लिए डाकखाना और तारघर का उत्तम प्रबंध, व्यय भेजने के लिए मनीआर्डर का सुप्रबन्ध और ट्रैक्ट तथा समस्त पुस्तकों के देश में प्रचार के लिए वेल्यू-पे-एबिल का उचित प्रबंध है। सार यह है कि वैदिक धर्म प्रचार के लिए ईश्वर की ओर से जिन वस्तुओं की सहायता की आवश्यकता थी वह सब मिली हुई हैं। जो कुछ निर्बलता है

सो हमारे हौसले, योग्यता और परिश्रम में है। हौसला मनुष्य को उस समय होता है जबकि वह उस कार्य को पूरा करने में समर्थ हो अथवा उसे अपने आत्मबल पर पूर्ण विश्वास हो। जबकि हम धन और काम की इच्छा में फंसे होने के कारण धर्मज्ञान के भी अधिकारी नहीं तो हमें हौसला (पुरुषार्थ) किस प्रकार हो सकता है? जिस मार्ग को हम जानते हों उस पर चलने का को हौसला होना संभव भी है, परन्तु जिस धर्म के ज्ञान के हम अधिकारी ही नहीं उसके प्रचार के लिए हमें किस प्रकार हौसला हो सकता है। यद्यपि हम दिन रात कहते हैं कि सत्य की जय होगी परन्तु हम सत्य को जानते तक नहीं।

क्योंकि वेदों में उपदेश हुआ है कि "चमकीली वस्तुओं के बर्तन से सत्य का मुख ढंका हुआ है।" यदि तुम सत्य अर्थात् सत् धर्म को जानने के अभिलाषी हो तो चमकीली वस्तुओं के इस आवरण को उठादो। परन्तु हमारी यह अभिलाषा बनी हुई है जिससे प्रकट होता है कि हमारा यह आवरण हटा नहीं। जब आवरण नहीं हटा तो सत्य, धर्म का ज्ञान कहां? और जब ज्ञान ही नहीं तो हमारा यह दावा कि जो कुछ हम समझते हैं सद्धर्म है साध्य कोटि में आ जाता है और बात भी स्पष्ट है कि जिस आत्मा को सद्धर्म रूपी मणियों का कोष प्राप्त हो जाय वह किस प्रकार सांसारिक कौड़ियों का व्यापार कर सकता है?

जहां वैदिक धर्म के प्रचारानुकूल साधन विद्यमान होने से मनुष्य का सौभाग्य प्रकट होता है वहां उसके अधिकारी मनुष्यों के न मिलने के कारण दुर्भाग्य का समय भी कुछ शेष रहा दिखाई देता है जैसे ताम्र पात्र में पड़ा हुआ दधि ताम्र से विषपूर्ण परमाणुओं को खाने वाले के शरीर में पहुंचा कर उसके प्राण लेने का कारण होता है, वैसे ही लोभी अनधिकारी अथवा स्वार्थी उपदेशक के वैदिक धर्म प्रचार के साथ उनके ईर्ष्या तथा लोभ के विचार भी सामाजिक मनुष्यों के हृदय स्थल में जा विराजते हैं। यदि योग्य उपदेशकों द्वारा योग्य मनुष्यों को उपदेश किया जाता तो आर्य्यसमाज की यह दशा न होती।

जिस प्रकार अनधिकारी उपदेशकों से समाज को हानि पहुंचती है उसी प्रकार अनधिकारी श्रोताओं से भी हानि पहुंचने की संभावना है। इसके सम्बन्ध में एक उदाहरण लीजिए :—

कथा—एक समय किसी व्यभिचारिणी स्त्री के पति ने अपने घर में महाभारत की कथा कराई और धर्मोपदेश समझ कर सम्पूर्ण घर वालों को सुनाने का प्रवन्ध किया। बहुत दिवस तक कथा होती रही और योग्य पंडित भले प्रकार व्याख्या करके सुनाते रहे। अन्त में जब कथा समाप्त हो गई और अपनी दक्षिणा लेकर पंडित जी महाराज विदा हुए तो एक दिन पति ने अपनी स्त्री से पूछा कि तुमने भी इस धर्म-उपदेश से कोई लाभ उठाया? स्त्री ने उत्तर दिया कि मैं अज्ञान और बधिर तो थी ही नहीं जो कथा न समझती और न नास्तिकपन मेरे चित्त में समाया था जो उसकी बातों को लाभ के लिए चित्त में न धारण करती। मैंने इस कथा से अवश्य लाभ उठाया है।

पति ने प्रश्न किया कि भला बताओ तो सही कौन-सी बात तुमने उत्तम समझ कर ग्रहण की है? स्त्री ने कहा कि महारानी द्रौपदी सतवन्ती थी कि जिसका चीर भगवान् ने बढ़ा दिया और भरी सभा में उसकी लाज रक्खी। जब उसके ही पांच पति थे तो मैं क्यों न पति करूं? इस समय मेरे तीन पति हैं। अभी दो और करूंगी तब मैं भी सतवन्ती कहलाऊंगी। पति यह सुन कर चकित रह गया और मन में विचारा कि बिना अधिकारी के धर्मोपदेश भी लाभप्रद नहीं हो सकता"।

स्वामी जी ने अवैदिक कर्मों में धन व्यय करने से इस लिए रोका था और उनका अभिप्राय यह था कि जो धन दुष्कर्मों में व्यय होता है उस व्यय के रोकने से प्रथम तो दुष्कर्म बन्द हो जावेंगे, दूसरे धन किसी उत्तम कार्य में व्यय होगा। इस कारण धन को कुछ उत्तम बताने की भी आवश्यकता हुई जिससे कि उत्तम वस्तु बुरे कार्य्यों में व्यय न हो। परन्तु इसका फल यह हुआ कि मनुष्यों ने इस से लक्ष्मी पूजा का सिद्धान्त गढ़ लिया।

प्रत्येक कार्य की दृढ़ता धन पर निर्भर हो गई जिससे यह दशा हो

गयी। क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष में देखी जाती है कि धन पिता-पुत्र को भी पृथक् कर देता है और धनवानों को अपनी संतान से भी भय रहता है। जैसे कि महात्मा शंकर के लेख का यह अर्थ है कि धनवानों को अपने पुत्र से भी भय रहता है।

आर्य्य पुरुषो ! अब भी विचार करो, अन्यथा थोड़े समय में आर्य्य-समाज को वह हानि पहुंचेगी जो अनिवार्य होगी और पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ न लगेगा।

यज्ञ

प्रिय पाठकगण ! आजकल यज्ञ का अर्थ शास्त्र से अपरिचित होने के कारण बलिदान अथवा जीव हिंसा के लेने लग गये हैं और इन मनुष्यों से पूछा जाता है कि तुम यज्ञ का अर्थ हिंसा कहां ? से लाते हो उस समय वह वाममार्गियों की क्रिया और उनके बनाये अथवा ग्रंथों में मिलाये हुए वाक्य उपस्थित करते हैं जिनमें कहीं केवल परिच्छेद और समास को ही बदल कर मनुष्यों को भ्रांति में डाला जाता है। अतः आज हम यज्ञ के विषय पर विचार करना चाहते हैं, जिससे सर्व साधारण को इस सर्वोपयोगी कार्य की उत्तमता ज्ञात हो जावे, संसार में इसका प्रचार हो जावे और जो मनुष्य जैन, बौद्धादि विना समझे केवल वाममार्गियों की क्रिया तथा पुराणों की गप्पों के भरोसे पर इस सर्वोपयोगी काम की निन्दा कर रहे हैं वह अपनी भ्रांति को जान कर इसके प्रतिकूल होने के स्थान पर सहायक हो जावें, जो वेदों की निन्दा के कारण नास्तिक कहाते हैं वे फिर वर्णाश्रम धर्म को मान कर आस्तिक हो जावें तथा संसार से फूट का झंडा उखड़ कर प्रेम का झण्डा गड़ जावे। प्रिय पाठको ! 'यज्ञ' शब्द 'यज' धातु से बना है, जिसका अर्थ देवपूजा, संगतिकरण और दान है।

आजकल जो मनुष्य यज्ञ का अर्थ बलिदान ले रहे हैं वह केवल देव-पूजा के लिए बलिदान करना—इस शब्द का अर्थ बताते हैं, और देवपूजा से

स्वर्ग की प्राप्ति बताई जाती है। अब देखना यह है कि देवपूजा से स्वर्ग की प्राप्ति होती है या नहीं तथा देव पूजा किसी पशु को बलिदान करने का नाम है या क्या ?

हम जहां तक वैदिक ग्रंथों को देखने हैं तो 'स्वर्ग' सुख विशेष का नाम प्रतीत होता है किसी स्थान विशेष का नहीं, और सुख उस समय होता है जब कि दुःख का लेश न हो। अब संसार में सब से महान् दुःख रोग, संक्रामक रोग, है (मलावरोध) तथा है और इनकी निवृत्ति का यज्ञ एक मात्र साधन है। जैसा कि लिखा है—यज्ञ तीन प्रकार के पदार्थों से करना चाहिए जिनमें प्रथम पुष्टिकारक, दूसरे दुर्गन्धि निवारक और तीसरे रोग विनाशक औषधियां हों। पुष्टिकारक पदार्थ वर्षा का कारण होते हैं, सुगंधिकारक पदार्थ वायु और जल को शुद्ध करते हैं और रोग विनाशक औषधि यज्ञ में बैठने वालों तथा समस्त संसार में से संक्रामक रोगों का निवारण करती हैं।

प्रिय सुहृदगण ! यज्ञ केवल महान् दुःखों को दूर करने का साधन है परन्तु आज कल मूर्खों ने यज्ञ को दूषित कर दिया है। बहुधा मनुष्य कहेंगे कि यज्ञ बलिदान का नाम है और जैन बावाजी आत्मारामजी ने तो इस पर अधिक जोर दिया है कि यज्ञ में हिंसा होती है परन्तु बावाजी ने संहिताओं का तो कोई प्रमाण दिया नहीं, केवल इधर-उधर के वाममार्गियों के ग्रंथों को लेकर अथवा राजा शिवप्रसाद जैनी आदिक के इतिहास का प्रमाण देकर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। परन्तु बाबाजी का यह पुरुषार्थ निष्फल प्रतीत होता है जब कि वेदों में यज्ञ में हिंसा का निषेध पाया जाता है। देखो ऋग्वेद सायण भाष्य :—

"अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि स इद्देवेषु गच्छति" ॥

प्रिय पाठकगण ! हमने आपको केवल दो मन्त्र और सायणाचार्य भाष्य में दिखा दिया कि यज्ञ में हिंसा करना महापाप है इसके लिए हम आप को एक प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं जिस से कि आप लोग समझ जावेंगे। आप ने बहुधा रामायण को पढ़ा होगा और बहुतों ने रामलीला में देखा

होगा कि जिस समय विश्वामित्र के यज्ञ को राक्षस लोग विघ्न डाल कर पूर्ण नहीं होने देते थे उस समय विश्वामित्र यद्यपि क्षत्रिय वीर था तथापि हिंसा के भय से रामचन्द्र को सहायता के लिए बुलाने गया क्योंकि वह जानता था कि विना क्रोध किये तो हिंसा हो नहीं सकती और क्रोध करना दीक्षित के लिए महापाप है, इसी कारण उसने रामचन्द्र को बुलाया।

प्रिय पाठकगण ! जब कि यज्ञ में क्रोध करना भी महापाप गिना जाता है तो कौन मूर्ख कह सकता है कि यज्ञ में हिंसा होती है और आजकल जो वाममार्गी इस प्रकार के हिंसक यज्ञ करते हैं यद्यपि वह हिंसा करते हैं परन्तु उनके संस्कारों में कुछ २ चिह्न अब भी मिलते हैं जैसा कि उनका इस प्रकार के यज्ञों को 'काम्य कर्म' वताना और प्रायश्चित्त करना जिस प्रकार कि विज्ञान भिक्षु अपने साँख्य भाष्य में लिखते हैं।

वहुत से यज्ञों में देखा गया है कि पहिले तो लोगों ने पशुमेध यज्ञ किया और फिर प्रायश्चित्त किया और जव उनसे पूछा गया कि तुम ऐसा क्यों करते हो तो उत्तर दिया कि यह काम्य कर्म है और जहाँ गृह्य सूत्रों में यज्ञों का वर्णन है वहाँ भी इस प्रकार के यज्ञों को काम्य कर्म ही वताया गया है। तात्पर्य्य यह कि पशु हिंसा वाला यज्ञ अवैदिक है और यज्ञ सर्वदा हिंसा-रहित होता है।

आजकल जितने यज्ञ होते हैं सव में तो हिंसा होती नहीं। हां कहीं होती है परन्तु इसके साथ ही वह लोग प्रायश्चित्त करते हैं। यद्यपि इस प्रायश्चित्त से हिंसा का दोष दूर नहीं होता तथापि इतना अवश्य होता है कि समझदार मनुष्य यह समझ जाता है कि यह वेदविरुद्ध कार्य है क्योंकि वेदानुकूल कर्म का प्रायश्चित्त वैदिक मनुष्य कर ही नहीं सकते, कारण यह कि उनके धर्म्म में तो वेदों को छोड़ कर और कोई प्रमाण ही नहीं माना जाता जैसा कि महात्मा मनु कहते हैं :—

"अर्थ कामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ॥
धर्मं जिज्ञासमानानाम् प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥"

अर्थ :—जिनका चित्त अर्थ और काम से हट गया है उन के लिये धर्म

का ज्ञान उचित है, और धर्म के जानने के लिए परम प्रमाण श्रुति अर्थात् वेद है।

ऐसा ही महात्मा जैमिनि मुनि ने कहा है :—

"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म्मः ॥

अर्थात् "जिस कर्म के करने की वेद में प्रेरणा की गयी हो वही धर्म कहाता है।" जब वैदिक लोगों का धर्म ही वेदानुकूल है तो यदि हिंसा को वह वेदानुकूल समझते तो किस प्रकार वेदानुकूल हिंसा का प्रायश्चित्त करते। यज्ञ करने वालों का प्रायश्चित्त करना भी हिंसा को वेदविरुद्ध ठहराता है और जहाँ लोग कहते हैं कि "वैदिकी हिंसा हिंसा नास्ति" इसका अर्थ यह कि वेद में जो राजा को आज्ञा दी गई है कि वह दुष्ट, हिंसक, डाकू आदि मनुष्यों तथा सिंह और वराहादिक पशुओं को मारे तो राजा का मारना हिंसा नहीं कहाती। कारण कि राजा को उनका मारना अपने अर्थ अथवा हिंसा के विचार से नहीं बताया गया, वरन दूसरों की रक्षा के लिए। निर्बलों की बलवानों से रक्षा करना राजा का धर्म है, इसलिए राजा को इस हिंसा का पाप नहीं लगता है।

प्रिय पाठकगण ! यदि आप तनिक विचार करें कि आप क्या वस्तु हैं और धर्म क्या ? पाप और पुण्य केवल मन की अशुभ वृत्तियों का नाम है क्योंकि मन ही इस प्रकार के पाप करता है और मन ही दण्ड पाता है। इसलिए लिखा है—

क्षुधापिपासा प्राणस्य शोक मोहौ मनसस्तथा।
जरा मरणं शरीरस्य षडोर्मिरहिता शिवाः ॥

अर्थात् 'भूख और प्यास प्राणों का धर्म है' क्योंकि प्राणों के साथ जितने अग्नि और जल के परमाणु बाहर निकलते हैं उतनी ही शरीर में न्यूनता होती है और इसी न्यूनता का नाम भूख और प्यास है। यह तो प्रत्येक मनुष्य जानता है कि जब घोर परिश्रम करते हैं तो प्राण वायु वेग से चलता है अतः परमाणु झट-झट निकलते हैं और भूख अधिक लगती है और शिथिलता में प्राण कम चलते हैं इसकी दशा नाड़ी से ज्ञात हो जाती है। दूसरे हर्ष और शोक यह मन में होते हैं क्योंकि मन किसी दूसरे विचार में लगा हो तो हर्ष और शोकजनक

पदार्थों से सम्बन्ध होने पर भी हर्ष और शोक नहीं होते और बूढ़ा होना और मरना यह शरीर का धर्म है अर्थात् जब शरीर से जीवात्मा निकल गया तो मृत्यु हो गई और पाप तथा पुण्य का करना भी मन की वृत्ति पर निर्भर है जब तक किसी का इरादा (निश्चय-विचार) नहीं उस समय तक वह उस कर्म का उत्तरदाता नहीं।

बहुत से जैन लोग यह कहते हैं कि यज्ञ करने में बहुधा जीवों का नाश हो जाता है, जैसे कोई जीव लकड़ी में है, कोई सामग्री में और कोई वायु में से आ गिरता है, अतः यज्ञ से हिंसा होती है परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि मनुष्य बीमारी से मर जाते हैं वह हिंसा किसको लगती है? क्या जो वैद्य औषधि देता है वह इस पाप का अपराधी समझा जाता है? कदापि नहीं। इसी प्रकार जो लोग यज्ञ करते हैं वे संसार के उपकार के लिए करते हैं, उनका भाव किसी को दुःख पहुंचाने का नहीं होता। हाँ, यदि कोई जीव यज्ञ के कारण मर जावे तो उसका यज्ञ ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सामग्री और लकड़ी भले प्रकार शुद्ध करने और देखने की आज्ञा वेद ने स्वयं दे दी है। इस कारण जो इस आज्ञा की उपेक्षा करता है वह इस अवहेलना का अपराधी है, परन्तु हिंसा करने का अपराधी नहीं।

प्रिय पाठकगण! बहुत से जैनी यह कहते हैं कि वेदों में यज्ञ में हिंसा करने की विधि लिखी है। जब उनसे पूछते हैं कि कहाँ लिखा है तो कहते हैं कि यह वेद की श्रुति है। परन्तु जब इस श्रुति की खोज की जाती है तो वेदों में तो इसका पता नहीं लगता, हाँ उन सूत्रों में जो वाममार्ग के पीछे प्रकट हुए अथवा जिनमें वाममार्ग की अधिक मिलावट है, पाई जाती है। इसी प्रकार और बहुत से तैत्तिरीय आरण्यक और ब्राह्मण के प्रमाण बाबा आत्मारामजी ने लिखे हैं और अन्य जैनी भी इन्हीं ग्रन्थों में से प्रमाण देकर यज्ञ में हिंसा को सिद्ध करना चाहते हैं परन्तु जहां तक विचार किया जाता है उनका अन्वेषण इतना निर्बल प्रतीत होता है कि उन्होंने किसी वेद का भाष्य न तो स्वयं देखा और न किसी से सुना, वरन केवल ब्राह्मणों के कहने पर ही मान लिया कि यह तैत्तिरीय शाखा आदिक वेद हैं। अन्यथा जब महीधराचार्य अपनी यजु-

वेद भाष्य की भूमिका में तैत्तिरीय शाखा की उत्पत्ति याज्ञवल्क्य के समय
बताते हैं। और याज्ञवल्क्य व्यासजी महाराज के चेला वैशम्पायन के शिष्य
जिनका समय महाभारत के लगभग सौ वर्ष पश्चात् प्रतीत होता है, ऐसी दश
में तैत्तरीय शाखा के प्राचीन न होने के कारण उसके बताये हुए यज्ञों का
अभाव ठहरता है और तैत्तरीय आरण्यक एवं वह सूत्र जो आज श्रौत सूत्र क
जाते हैं, जिनमें तैत्तिरीय शाखा के बहुत से प्रमाण विद्यमान हैं, भी विद्यमा
न थे, और जितने प्रमाण बाबा आत्मारामजी ने यज्ञ में हिंसा दिखाने के लि
दिये हैं वे सब उन्हीं ग्रन्थों के हैं और कहीं आत्मारामजी ने चाहे तो संस्
विद्या की न्यूनता के कारण चाहे पक्षपात से हो अर्थ का अनर्थ किया है
क्योंकि संस्कृत विद्या इतनी अगाध एवं गूढ़ अर्थ वाली है कि तनिक
पदच्छेद अथवा समास के बदलने से आशय सैंकड़ों कोसदूर चला जाता है
जैसे किसी ने कहा कि:—

"मदर्चि परम गतिम्" ॥

अर्थात्—"मेरी पूजा करने वाला परम गति को जाता है।" अब दूसरे
खींच कर पदच्छेद ऐसा किया:—

मद्याजी परमं गतिम्

अर्थात—"मदिरा पीने वाला और बकरा खाने वाला परम गति
जाता है।"

प्रिय पाठकगण ! कतिपय मनुष्य यह कहते हैं कि यज्ञ से देव पूजा कि
प्रकार हो सकती है क्योंकि अग्नि आदिक जड़ पदार्थों को प्रसन्न करने के लि
घृत और मेवा आदि का डालना व्यर्थ है। परन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहि
कि जड़ पदार्थों पर ही मनुष्य का जीवन निर्भर है। यदि जड पदार्थ प्रसन्न
हों तो मनुष्य का जीवन एक भार हो जावे। उदाहरणार्थ जिस नगर का ज
उत्तम न हो वहां रहने में प्रत्येक मनुष्य को कठिनाई होती है। जहाँ की वा
में रोग हो वहां तो कोई रहना ही नहीं चाहता। आपने महामारी और बम्ब
के समाचारों से जान लिया होगा कि कोई नहीं कह सकता कि 'जल वा
आदि जड़ पदार्थों को प्रसन्न किये बिना हम सुख प्राप्त कर सकते हैं, कतिप

मित्र कहेंगे कि यह पदार्थ जड़ होकर प्रसन्न और अप्रसन्न कैसे हो सकते हैं ? परन्तु क्या जड़ का अर्थ अप्रसन्न रहने का है, जब कोई वस्तु हमारे अनुकूल होती है तब हम उसे प्रसन्न कहते हैं, जैसे सुगन्धि । क्या गन्ध में प्रसन्नता का गुण है ? नितान्त नहीं, वरन् हमारे अनुकूल होने से ही प्रसन्न कहाती है, इसी प्रकार और बहुत से उदाहरण हैं जहां पदार्थों के साथ हम प्रसन्नता का योग करते हैं ।

प्रिय पाठकगण ! यज्ञ से बढ़कर संसार में कोई उपकारक कर्म दूसरा नहीं, क्योंकि जल वायु की शुद्धि विना कि जिससे प्राणियों को कष्ट होता है, उससे ही बचाने का नाम यज्ञ है । जब भारतवर्ष में यज्ञ होते थे तब कभी विशूचिका आदि रोगों का पता भी न था, परन्तु जबसे वाममार्गियों के हिंसक यज्ञों ने यज्ञ जैसे उत्तम कर्म को कलङ्कित कर दिया तभी से यहां अकाल, विशूचिका और प्लेग (महामारी) आदिक नाना प्रकार के संक्रामक रोग आ गये जिससे प्राणी मात्र को दुःख हो रहा है ।

यद्यपि गवर्नमेंट स्वच्छता आदिक अनेक प्रकार के साधनों से इन रोगों के रोकने का प्रयत्न कर रही है परन्तु जब तक आन्तरिक स्वच्छता अर्थात् अन्न, जल और वायु की पवित्रता न हो उस समय तक उनका नाश होना कठिन ही प्रतीत होता है, सम्पूर्ण अन्नों में मैला खाद डाला जाता है जिससे भोजन अस्वच्छ हो रहा है, समस्त नदियों में वस्त्र धोने, गन्दे नाले मिलने एवं पृथ्वी में मृतकों को गाड़ने से पृथ्वी का जल अस्वच्छ हो गया है, और मिट्टी के तेल जैसा दुर्गन्ध कारक तेल जलाकर उसके धुएं द्वारा सारे वायुमण्डल को दुर्गन्धित कर दिया है, भारतवर्ष से सर्व उत्तम पदार्थ पृथक् कर दिए गये हैं, ऐसी दशा में यदि रोग न फैले तो बनाने वाले के सम्पूर्ण नियम निकम्मे हो जावें ।

प्रिय पाठकगण ! यावत् भारतवर्ष में यज्ञ का प्रचार था उस समय तक अग्नि, वायु और जल आदिक प्रत्येक पदार्थ मनुष्यों के अनुकूल बना रहता था, इस यज्ञ के भिन्न २ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न नाम हैं, जैसे पुत्रेष्टि, चातुर्मास्य, दर्श पूर्ण आदिक नाना प्रकार के यज्ञों के बहुत से लाभ समझे गये हैं जैसे किसी के पुत्र उत्पन्न न हुआ तो उसके लिए पुत्रेष्टि

यज्ञ की आवश्यकता है और प्रत्येक यज्ञ के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की साम नियत है जिस प्रकार कि प्रत्येक रोग के लिए भिन्न-भिन्न औषधियाँ होती हैं।

आजकल जो बहुधा यज्ञों में सफलता नहीं होती उसका बड़ा भारी कार यज्ञों की सामग्री का अज्ञान है, अन्यथा यह सम्भव नहीं था कि जिस कार्य निमित्त यज्ञ किया जावे वह कार्य पूर्ण न हो।

जिस समय महाराजा दशरथ के सन्तान नहीं होती थी उस समय पुत्रेष्टि यज्ञ किया गया और उस यज्ञ का प्रसाद राजा की रानियों ने खाया तो चार पुत्र हुए। आप अचम्भा करेंगे कि प्राकृतिक नियम के विरुद्ध किस प्रकार बखेड़ा उपस्थित कर दिया, परन्तु मित्रो! यह बात सत्य और प्राकृतिक नियम के ठीक अनुकूल है, क्योंकि यदि पुरुष में पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति नहीं तो उसको यज्ञ में बैठाया जाता है और यदि स्त्री पुरुष दोनों में नहीं है तो दोनों मिलकर यज्ञ करते हैं और ग्यारह दिन तक उन औषधियों के पर माणु, जिनसे यज्ञ किया जाता है, सूक्ष्म होकर प्राण वायु के द्वारा उनके शरी में प्रवेश करते हैं, और अग्नि के सम्मुख बैठने से बुरे परमाणु पसीने की रा निकलते रहते हैं, जिससे ग्यारह दिन में पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है, इसी प्रकार वर्षा आदिक के निमित्त यज्ञ किये जाते थे, मूर्खों ने यज्ञ की विद्या को न जान कर इस पर आक्षेप किये हैं, परन्तु यथार्थ तथा ज्ञानपू एक भी नहीं।

प्रिय पाठकगण! भारतवर्ष में जितने विद्वान् हुए प्रत्येक ने यज्ञ के ऊप जोर दिया था। पारसियों की आतिशपरस्ती (अग्नि पूजा) तथा यहूदियों की सोखनी कुर्बानियां इस यज्ञ को बिगाड़कर बनाई गई हैं जिससे पता चलता है कि एक समय समस्त भूमण्डल यज्ञ को अपना धर्म समझता था परन्तु जि समय से वाम मार्ग चला और उन्होंने हिंसक यज्ञ आरम्भ किये तो संसार में यज्ञों की निन्दा फैल गई और मनुष्य इस सर्वोपयोगी कार्य से पृथक् हो गये। जिस प्रकार दही एक उत्तम पदार्थ है परन्तु जिस समय ताम्र पात्र में डाल दिय जावे, जिसे थोड़े समय पूर्व प्रत्येक मनुष्य खाना चाहता था, अब विष सम कर कोई खाना नहीं चाहता और प्रत्येक को उससे घृणा हो जाती है, यही

दशा यज्ञ की है कि एक सर्वं सुखद कार्यं जिसमे अवसर पर वर्षा, सन्तानोत्पत्ति और जल-वायु की शुद्धि तथा रोगों की चिकित्सा होती थी, आज सब लोग उससे पृथक् होकर दुःख उठा रहे हैं।

प्यारे आर्यगण! यदि अब भी आप सुख चाहते हैं तो वेद विद्या को प्राप्त करके, यज्ञ के विषय को स्पष्ट करके उसका प्रचार करो जिससे भारतवर्ष, नहीं-नहीं सबके दुःख दूर हों और संसार में सुख और शान्ति फैल जावे।

वर्ण व्यवस्था

ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याँ शूद्रो अजायत ॥
यजु० ३१ । ११ ॥

प्यारे पाठक गण! इस से पहले वेद मन्त्र में यह प्रश्न किया गया था कि मनुष्य जाति का मुँह क्या है? बाहु क्या है? और पाँव क्या हैं? अर्थात् इस बात को अलंकार से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया था कि जिस प्रकार संसार में भिन्न-भिन्न अंग हैं किन्तु सब मिलकर पुरुष कहलाता है यद्यपि भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न काम करती हैं लेकिन सब का लाभ एक ही पुरुष को पहुंचता है, और एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के आधीन हैं इसी तरह इस मनुष्य जाति में यद्यपि भिन्न प्रकार के वर्ण और आश्रम होने से यह सब एक हैं यद्यपि हर एक वर्ण और आश्रम के गुण और कर्म नितान्त भिन्न-भिन्न हैं लेकिन उनका फल कुल मनुष्य जाति के लिए होता है और हर एक प्रकार के मनुष्य दूसरे के आश्रित हैं, और जिस प्रकार एक इन्द्रिय के निकम्मी हो जाने से शरीर की दशा में अन्तर आना आरम्भ हो जाता है उसी प्रकार हर एक वर्ण और आश्रम में निर्बलता आजाने से संसार का कारोबार गड़बड़ हो जाता है जिस तरह हर एक इन्द्रिय अपने काम के साथ दूसरी इन्द्रियों को सहयोगी करती है उसी तरह हर मनुष्य को अपना काम करके दूसरो के काम करने में सहायता भी करनी चाहिए, यथा

आंख का धर्म्म रूप देखना है और वह देखती हैं लेकिन वह पांव को मार्ग दिखलाती है, हाथ को पकड़ने वाली वस्तु दिखलाती है तात्पर्य यह है कि यह मन्त्र मनुष्यों के काम और सामाजिक काम को ठीक तरह पर बतलाने वाला है।

प्यारे पाठकगण ! इस मन्त्र का अर्थ यह है कि ब्राह्मण इस संसार का मुख है और क्षत्रिय वाहु हैं और वैश्य ऊरू अर्थात् जघा है, और शूद्र पांव हैं अर्थात् मनुष्य जाति के चारों वर्णों को शरीर के चारों अंगों की उपमा दी है। वहुत से लोग यहां पर प्रश्न करेंगे कि चार ही क्यों वनाये गये इस से कम या अधिक हो सकते हैं लेकिन उनकी शंका ठीक नहीं क्योंकि ये नियम प्राकृतिक उद्देश्य पर बनाये गये हैं और नियन्ता ने शरीर को चार टुकड़ों ही में विभक्त किया है। पहिला टुकड़ा गर्दन से शिर तक भिन्न दृष्टि पड़ता है, दूसरा वाहु से कमर तक, तीसरा कमर से जंघा तक है, और चौथा जंघा से पांव तक है। अव पहिले टुकड़े को ब्राह्मण कहा कि ब्राह्मण मनुष्य जाति का शिर है लेकिन नियन्ता ने अपने इस नियम को ऐसा बनाया है कि आश्चर्य्य होता है।

प्यारे मित्रो ! यह तो आप को विदित है कि शिर वाला भाग नीचे के भागों से तत्वशक्ति में वहुत ही निर्वल है, क्योंकि वह सब से छोटा है और इस उपमा में नियन्ता ने बतलाया है कि जिस तरह यह हिस्सा दूसरे हिस्सों से तत्वशक्ति में निर्वल है उसी तरह ब्राह्मण सांसारिक वस्तुओं, धन में सब संसार से न्यून होगा अर्थात तीनों वर्ण इस से अधिक धनी होंगे, परन्तु इन हिस्सों में यह भी दिखला दिया है कि जिस तरह पांचों ज्ञान इन्द्रियों के साथ-साथ इस हिस्से में ज्ञान के वाह्य साधन उपस्थित हैं, उसी तरह ब्राह्मणों में ज्ञान के साधनों का होना आवश्यक है।

अव आप देख लीजिए कि चक्षु अर्थात् आँख और कान, नाक, जीभ, और खाल पांचों ज्ञान के साधन उपस्थित हैं और यह भी बतलाया गया है, कि खाल जो स्पर्शेन्द्रिय है वह तो सारे शरीर में उपस्थित है, अर्थात् सामान्य ज्ञान हर एक प्राणी में विद्यमान है लेकिन विशेष ज्ञान ब्राह्मणों के वास्ते है

या जिसको विशेष ज्ञान और धन आदि की कमी अर्थात् वैराग्य होता है वह ब्राह्मण कहलाता है और यहाँ पर यह भी बतलाया गया है कि ज्ञानेन्द्रियों में उत्तम कौन है क्योंकि आँख और कान को लगभग ऊँचाई में बराबर रक्खा है जिसका अर्थ यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान और ईश्वरीय शब्द से प्राप्त होने वाला ज्ञान बराबर हैं और उस के पश्चात् गन्ध से ज्ञान होता है उस के पश्चात् रस का ज्ञान है।

प्यारे पाठकगण ! यहां से आपको यह भी मालूम हो जाएगा कि जितनी दूर तक हम ठीक रूप से देख सकते हैं लगभग वहीं तक ठीक शब्द सुन सकते हैं लेकिन गन्ध इतनी दूर से ठीक मालूम नहीं होती और रस तो जब ही मालूम होता है जब कि वस्तु मुँह में आ पड़ती है। अर्थात् इन्द्रियों कि शक्ति का अनुमान होगया कि सबसे प्रथम आंख और कान, दूसरे नाक, तीसरे जिह्वा। बहुत से लोग यहाँ पर यह शंका करेंगे कि स्पर्शेन्द्रिय को क्यों छोड़ दिया वह सब से ऊपर विद्यमान है ? लेकिन मित्रो ! स्पर्श तो सारे शरीर में व्यापक होने से सामान्य हो गया, इसके वास्ते ऊपर नीचे के क्रम का अनुमान ठीक नहीं।

प्यारे पाठकगण ! यहाँ से आपको यह ज्ञात होगया कि ब्राह्मण के गुण ज्ञान और वैराग्य हैं लेकिन कर्म क्या है इसका उत्तर नियंता ने दिया है कि कर्मेन्द्रिय इस शरीर में कौन है ? वाणी। इसका काम क्या है ? जो आँखों से देखा, कान से सुना और नाक से सूंघा हो उसका दूसरों को बतलाना अर्थात् ब्राह्मण का काम ये है कि पांचों ज्ञानेन्द्रियों से जो ज्ञान प्राप्त हो संसार में उसका उपदेश करे अर्थात् ब्राह्मण का काम करना अर्थात् कान से प्राप्त करना और वाणी से पढ़ना और यज्ञ करना कराना अर्थात् वाणी से मन्त्रों द्वारा क्रिया करनी और दूसरों से करानी है और जिस गुरु से पढ़ा है उसको गुरु-दक्षिणा देना अर्थात् दान देना और जिसको पढ़ाया है उस से दक्षिणा अर्थात् दान लेना या जिसने ब्राह्मण के घर में यज्ञ कराया है उस को यज्ञ की दक्षिणा देना अर्थात् दान देना है। पहिले चार कर्म अर्थात् पढ़ना-पढ़ाना और यज्ञ करना-कराना तो कर्तव्य कर्म हैं, पिछले दो कर्म उनका फल है।

प्यारे पाठकगण ! बाहु को राजा अर्थात् क्षत्रिय कहा गया है। अब आप देखिए सारे शरीर में रक्षा का काम कौन करता है जब आँख में चोट लगे तो औषधि कौन करे, पांव में चाहे कष्ट हो व शरीर के और किसी भाग में कष्ट हो उसका निदान करना बाहु का काम है और यह भी बतलाया गया है कि यह भाग प्रकृति शक्ति में शेष तीनों से अधिक होगा सो आप इस टुकड़े को जो गले से कमर तक फैला हुआ है, जांच कर सकते हैं कि ये सारे से अधिकत्व रखता है।

इसी तरह राजा के पास दुनिया के सब वर्णों से अधिक धन होना आवश्यक है और यहाँ भी बतलाया गया है कि बल विद्या के पश्चात् दूसरा दर्जा रखता है अर्थात् संसार में पहिला दर्जा विद्या का है, क्योंकि बाहु इत्यादि आँख की मदद के बिना काम नहीं कर सकती और आँख वगैर बाहु की सहायता के काम कर सकती हैं आँख की रक्षा के वास्ते तो बाहु का होना आवश्यक वस्तु है लेकिन उस के काम की सहायता बाहु से कुछ भी नहीं हो सकती जिसका अर्थ यह है कि विद्या की रक्षा के वास्ते बल की आवश्यकता है, और बल को काम में लाने के वास्ते विद्या की आवश्यकता है बल विद्या के बिना ठीक प्रकार काम नहीं कर सकता और बल के बिना विद्या की रक्षा नहीं हो सकती परन्तु स्मरण रहे कि बल अपने काम करने के वास्ते विद्या पर आश्रित है, इस वास्ते पहिली कक्षा विद्या को दी गई है और तीसरा हिस्सा जंघा अर्थात् ऊरू कहलाता है उसको वैश्य से उपमा दी गई है क्योंकि यह हिस्सा ऊपर और नीचे के दोनों हिस्सों का मध्य स्थान है, अर्थात शूद्र इत्यादि वैश्य की पदवी के हुए क्षत्रिय, ब्राह्मण नहीं हो सकता; और वैश्य की प्रतिष्ठा धन से बतलाई गई है। अर्थात् धन संसार में तीसरे दर्जे पर है क्योंकि विद्या और बल से धन पैदा होता है, परन्तु धन से विद्या और बल प्राप्त नहीं हो सकते।

हमारे बहुत से मित्र यह प्रश्न करेंगे कि हम धन से विद्या प्राप्त कर सकते हैं रुपया खर्च करके पढ़ लेंगे परन्तु याद रहे कि वगैर पुरुषार्थ और परिश्रम किये धन से विद्या प्राप्त नहीं हो सकती और जितना परिश्रम से

धनवान् मनुष्य विद्या प्राप्त कर सकता है उस भांति परिश्रम से निर्धन आदमी भी विद्या प्राप्त कर सकता है। अर्थात् विद्या के वास्ते धन का होना न होना बराबर है केवल मेहनत की आवश्यकता है। दूसरे बलवान् आदमी धन को हासिल कर सकता है और धन से शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

बहुधा लोग यह शंका करेंगे कि धन से अच्छा भोजन मिलता है और उससे शक्ति हासिल होती है लेकिन यह बात मिथ्या है क्योंकि सब धनी आदमी निर्बल दिखाई देते हैं बल्कि विषय रंजन का कारण धन ही दृष्टि पड़ता है जो निर्बलता का चिह्न है।

प्यारे पाठक ! धन को विद्या और बल से नीचा दरजा देने का यह भी कारण है कि विद्या और बल जीवात्मा और शरीर का गुण है यानी विद्या तो चेतन जीवात्मा का गुण है और बल जीव और शरीर दोनों का मिलावटी गुण है लेकिन धन इन दोनों से भिन्न एक बाह्य वस्तु है। और जितनी देर में धन नाश होता है बल उससे अधिक देर में नाश हो सकता है और विद्या पहिले तो जन्म जन्मान्तर तक नाश भी नहीं होती हाँ विद्या के कारण से निर्बल या देर में नाश हो जाती है। चौथा भाग पांव का है जो पाँव से घुटने तक है, ये हिस्सा निर्बल मध्यवर्ती दो हिस्सों से माद्दे में कम है लेकिन ऊपर के हिस्से से अधिक है जिससे बतलाया गया है कि शूद्र ब्राह्मण से ज्यादा धन वाला हो सकता है लेकिन क्षत्रिय वैश्य से कम धन रखता है और इस हिस्से का काम सिवाय सारे बदन को उठाकर ले चलने के कुछ भी नहीं होता अर्थात् नियन्ता ने शूद्र को तीनों वर्णों की सेवा के वास्ते बनाया है।

प्यारे पाठक ! ये सेवक समाज दुनियाँ में विद्वानों से अधिक धनी हो सकता है। हमारे बहुत से दोस्त शंका करेंगे कि यदि विद्या से अधिक सेवा से धन पैदा होता है तो विद्या सब से निर्बल वस्तु है।

लेकिन याद रखना चाहिये कि विद्वान् पुरुष कदापि धन की इच्छा नहीं रखता और न धन के वास्ते अपने जीवन को खर्च कर सकता है क्योंकि उस के विचार में जीवन के सन्मुख धन ही तुच्छ वस्तु है। वह जानता है कि यदि दुनियाँ का एक भारी बादशाह अपनी मौत के समय सारी बादशाहत पांच

मिनट के जीवन के वदले देने का विचार करे तो उसे सारी बादशाहत के वदले पांच मिनट जीवन नहीं मिल सकता फिर वह क्यों अपना बहुमूल्य जीवन धन के वदले खर्च करेगा। जो जीवन एक बादशाहत के वदले थोड़े समय के वास्ते नहीं मिल सकता उस के बड़े हिस्से को थोड़े धन के वास्ते खर्च करना बड़ी मूर्खता है। पुराने समय में ब्राह्मण सदैव धन से घृणा करते थे इस वास्ते सब से उत्तम गिने जाते थे और लिखा भी है :

परोक्षप्रिया हि देवा: प्रत्यक्षद्विषः ।।

अर्थात् देवता लोग परोक्ष के प्यारे होते हैं परोक्ष उसे कहते हैं जो वाह्य इन्द्रियों से अनुभव न हो और इस ससार में जो तीन पदार्थ हैं उनमें से हमारे अनेक मित्र ये शंका करेंगे कि मंत्र में तो ब्राह्मण शब्द है, और इस कथन में देवता शब्द है, ब्राह्मण और देवता से क्या सम्बन्ध। लेकिन याद रखना चाहिए कि देवता और ब्राह्मण पर्यायवाची है जैसा कि लिखा है—

विद्वाँसो ह्रि देवा: ।। तैत्तिरीय० उ० ।।

अर्थ—विद्वान् ही देवता होते हैं। वहुधा यहाँ पर शंका करते हैं कि विद्वान् शब्द देवता का पर्याय नहीं किन्तु देवता का गुण है अर्थात् देवता विद्वान् होते हैं मूर्ख नहीं होते लेकिन उनका यह कथन ठीक नहीं। महाभाष्य में लिखा है कि देवता शब्द का अर्थ पण्डित है।

देखो महाभाष्य का दूसरा अध्याय :—

किं पुनरर्थस्य तत्त्वं देवा ज्ञातुमर्हन्ति।

देवा इति दिव्यदृशः देवा इति पण्डिताः इत्यर्थः। इस पर कैयट लिखते हैं कि:—

पतञ्जलि मुनि ने कहा था कि अर्थ के तत्व को विद्वान् ही समझ सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य की शक्ति नहीं कि वस्तु की सूक्ष्मता को समझ सके।

प्यारे पाठक ! उपरोक्त वर्णन से आपको मालूम होगया होगा कि वेद मंत्र चारों वर्णों को गुण और कर्म से भिन्न वतला रहा है और साथ ही विद्या, बल, धन और सेवा के कर्तव्य के क्रम को वतला रहा है और यह भी बतला रहा है कि जिस तरह इनमें से एक हिस्से के विगड़ जाने से शरीर की दशा

धुरी हो जाती हैं जैसे एक आंख न होने से काणा और दोनों न होने से अन्धा, कान के निकम्मा होने से बहरा, वाणी के निकम्मा होने से गूंगा हो जाता है इसी तरह पर जिस मुल्क में ब्राह्मण अर्थात् विद्वान् न हो या वह अपने कर्तव्य को पूरा न करे वह अन्धा गूंगा व्यवहार में गिना जाता है, दूसरे जिस तरह बांह के निकम्मी हो जाने से मनुष्य डुंडा हो जाता है और अपने शरीर की रक्षा नहीं कर सकता इसी तरह पर जिस मुल्क में क्षत्रिय अर्थात् बलवान् सिपाही विद्यमान न हो वह मुल्क भी डुंडा हो जाता है और अपनी रक्षा नहीं कर सकता और सदैव गुलामी से दबा रहता है और जिस तरह जंघा की कमजोरी से आदमी चलने और व्यवहार करने में कमजोर हो जाता है इसी तरह जिस मुल्क में वैश्य व्यापारी और किसान न हो वह मुल्क भी निकम्मा और कमजोर हो जाता है, जिस तरह पांव बिगड़ जाने से अर्थात् निकम्मा हो जाने से आदमी लंगड़ा, लूला हो जाता है इसी तरह पर जिस मुल्क में सेवक और दस्तकार लोग मौजूद न हों वह मुल्क बिल्कुल उन्नति से रहित और सांसारिक शक्तियों से रिक्त रहता है।

प्यारे पाठक ! अब आप समझ गये होंगे कि वेद मन्त्र क्या बतलाता है और जो लोग इसकी आज्ञा का पालन नहीं करते वह अवश्य कष्ट में होंगे चूंकि आजकल भारतवर्ष के चारों वर्णों में अपने-अपने गुण हैं कर्मों को छोड़ कर देश को जो नुकसान पहुंचता है उसकी कोई हद्द नहीं लगा सकता, इस वास्ते जब तक सारे वर्ण अपने गुण कर्म वेदमन्त्र के अनुकूल न कर लें तब तक भारतवर्ष किसी तरह पर तरक्की नहीं कर सकता और चारों वर्णों का अपने गुण कर्मों पर आजाना उपदेश के बिना असम्भव मालूम होता है, इस वास्ते जब तक सारे मुल्क में नियमानुसार वैदिक धर्म द्वारा चारों वर्णों को जो अपने-अपने गुण कर्मों को छोड़ कर जाति और कर्म से रहित हो गया है उनके दुःखों का उपदेश करके हर एक आदमी को उसके वर्ण के कर्तव्य न सुझाये जांय और अविद्या के कारण जो कुरीतियां या स्वभाव देश में प्रचलित हो गये हैं वह बिल्कुल बन्द न हो जांय अथवा आजकल जो वर्ण आश्रम की जगह पर सम्प्रदाय और भिक्षुक-मण्डल जारी हो गये हैं जब तक ये सुधर

कर फिर वर्ण के आश्रय में न आ जायें तब तक भारत गारत होता चला जायगा।

प्यारे पाठक ! इस समय यदि आप सम्प्रदायों का खण्डन और भिक्षुकों को कम करने का प्रयत्न करेंगे तो अवश्य एक प्रकार का भारी कोलाहल संसार में फैल जावेगा जैसा महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती जी के उपदेश से सारी दुनिया के अन्दर जो एक प्रकार का विचार आरम्भ हुआ था वह आर्यसमाज के साधारण सभासदों के खण्डन और आचरणों से उलटा हो गया। लेकिन आप सोचते होंगे कि इसका क्या कारण है कि स्वामी जी के जीवन-काल में आर्यसमाज में प्रेम और प्रीति का प्रचार अधिक था और अब वह इस से कुछ कम हो गया ? यद्यपि बहुत से भोले भाई इसको समाज के सभासदों की जियादती पर महमूल करते हैं लेकिन उनका ये कहना ठीक नहीं। स्वामी जी का जीवन परोपकार का जीवित उदाहरण था और वैदिक धर्म का उपदेश भी बराबर जारी था। स्वामी जी के मरते ही धर्म की जगह राजनीति और उपदेश की जगह कालिज और स्कूल और संस्कृत के गौरव के स्थान में अंगरेजी के गौरव ने स्थान पा लिया जिससे वह सारा प्रेम कम होने लगा और आर्य धर्म का वह वृक्ष जो महर्षि ने उपदेश के जल से सींच कर तैयार किया था कमजोर होने लगा और विद्या का काम सब देशों के वास्ते कम हो गया।

प्यारे पाठक ! चूंकि नियंता ने नियम से एक हिस्से में ज्ञानेन्द्रियें और शेष हिस्सों में कर्मेन्द्रियें दे कर और केवल ८४ लाख ज्ञानेन्द्रियें देकर यह सिद्ध कर दिया है कि सामान्य ज्ञान तो कुल संसार को हो सकता है और विशेष ज्ञान सारी दुनियां को हो नहीं सकता। इस वास्ते ज्ञानी का कर्तव्य है कि अज्ञानियों को उपदेश के द्वारा रास्ता दिखलावे लेकिन आजकल मूर्ख लोग उस उपदेश को तुच्छ समझने लग गये मानो उनके विचार में ईश्वर-शिक्षा भी अपूर्ण है केवल उनकी बुद्धि पूर्ण है।

प्यारे पाठक ! इस वास्ते आप वेद के लिखित और मौखिक प्रचार से चारों वर्णों के गुण कर्म सुधारने का प्रयत्न करो।

॥ इति ॥

स्वामी दयानन्द और उनका उद्देश्य

(१)

प्रियवर पाठक ! आप महाशयों ने श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी का नाम तो अवश्य सुना होगा। उनके निर्मित किये हुए वेद भाष्य व अन्यान्य पुस्तकों को भी कदाचित् देखने का अवसर मिला हो, यदि आप आर्य्य समाज के मेम्बर हैं तब तो आप को उनकी व्यवस्था से भली प्रकार भिज्ञता होगी परन्तु इतने पर भी क्या आपने श्री स्वामीजी के मुख्य उद्देश्य या सदुपदेशों का प्रयोजन यथोचित समझ लिया है । मुझे जहां तक २६ वर्ष सामाजिक आयु को व्यतीत कर तजुरबा से मालूम हुआ है और उसमें सफलता हुई है, मैं कह सकता हूं कि मुझे अति न्यून संख्या ऐसे मनुष्यों की दृष्टिगोचर होती है जो उस महर्षि के मन्तव्यों को भली भांति समझे हों। बहुत से लोग स्वामी जी को भारतवर्ष का हितैषी मानते हैं, कुछेक उनको हिन्दू रिफार्मर ठहराते हैं, अनेक महाशय उनको देशोद्धारक जानते हैं परन्तु मेरी सम्मति से एक महात्मा संन्यासी के विषय मे ऐसा कहना मानो उसको उस धर्म्म से पदच्युत कर देना है क्योंकि संन्यासी का धर्म सारे संसार का उपकार करना और प्रत्येक को समान दृष्टि से देखना है। यदि स्वामी दयानन्द केवल भारतवर्ष के हितैषी थे तो अन्य देशों के वे अवश्य अशुभचिंतक होंगे जो सर्वथा मिथ्या है ।

यदि हिन्दू रिफार्मर थे तो हिन्दू जाति से प्रीति और अन्य से घृणा होगी परन्तु यह प्रत्यक्ष रूप से अल्प बुद्धि जनों के मन्तव्य हो सकते हैं, वास्तव में वह महर्षि एक सच्चा संन्यासी था और सारे संसार के प्राणीमात्र को सुख पहुंचाना उसका उद्देश्य था ।

प्यारे मित्रो ! यह आप को ज्ञात है कि आदि में सारे संसार में वैदिक धर्म का प्रचार था परन्तु क्रमशः समय के हेर फेर ने इस वैदिक धर्म को भिन्न-भिन्न टुकड़ों में विभाजित कर दिया । इसका प्रमाण यह है कि वैदिक धर्म का सर्वोत्तम नियम अर्थात् यज्ञ अग्निहोत्र को हम प्रत्येक देश तथा धर्म की

मूल पुस्तक में पाते हैं और पाँच सहस्र वर्ष से प्रथम का कोई ऐसा सम्प्रदाय प्रतीत नहीं होता, अर्थात् यवन मत १३०० वर्ष से, ईसाई मत १९०० वर्ष से, यहूदी ३५०० वर्ष से, पारसी मत ४५०० वर्ष से, इससे प्रथम वैदिक धर्म के अतिरिक्त कोई मत नहीं पाया जाता जिससे प्रत्यक्ष विदित है कि यह सारे मत वैदिक धर्म के बिगड़ने से उत्पन्न हो गये, इसके अतिरिक्त जिस समय चरक में इस श्लोक को देखते हैं :

वाल्हिका पलवाश्चीना शुलीका यवनाशकाः ।
माषगोधूम परमहदीशास्त्र वैश्वानरोचिता ॥

अर्थात् महात्मा अत्रि ऋषि ने बलख, ईरान, चीन, अरब, यूनान, और उसके पूर्वी विभागों में भ्रमण किया और वहां पर उन्होंने अंगूर, उर्द, गेहूं के खाने वाले तथा शास्त्र के अनुकूल अग्निहोत्र करने वाले मनुष्य देखे, तो इससे प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि वैदिक धर्म उस समय वर्तमान था, और जब महाभारत युद्ध में योग्य विद्वानों के नष्ट हो जाने से उसका प्रचार निर्बल हो गया और अन्त में प्रचार के न रहने से और धनादि की अधिकता से मनुष्यों में दुराचार फैलने लगा और राजा लोग निन्दित कर्मों में प्रवृत्त हो गये, ब्राह्मण जो उस समय जगत् गुरु कहलाते थे वैदिक धर्म के प्रचार के न होने तथा आलस्य से अपने कर्तव्यों से प्रथम ही पतित हो चुके थे वे भी राजाओं के सेवक हो गये और हां में हां मिलाने लगे, उस समय जब लोगों ने राजाओं से कहा कि आप यह क्या अधर्म करते हैं ?

इसी प्रकार जब सारे देश में उनकी निन्दा होने लगी तब राजाओं ने अपने पुरोहित ब्राह्मणों से मिल कर इस निन्दा से बचने का उपाय किया और संसार में एक ऐसा मत चलाया जिसमें सारे कुमार्ग धर्म बन गये, इस मत का नाम वाममार्ग है, और 'वाम' का अर्थ 'उल्टा' अर्थात् उल्टा मार्ग फैल गया जिसमें अधर्म्म की बातों को धर्म्म बतलाया अर्थात ईश्वर के स्थान पर प्रकृति को मानना या विषय सुख को धर्म्म बतलाया । प्रत्यक्ष रूप से वाम मार्ग का उल्टा मार्ग बतला रहे हैं ।

भ्रातृगण ! इस वाममार्ग का मूल तैतरीय शाखा है क्योंकि उसके विषय में जो वृत्तांत महीधर भाष्य में लिखा है उससे प्रत्यक्ष विदित होता है कि उसी समय से वाममार्ग चला अर्थात् एक समय व्यासजी के चेले वैशम्पायन अपने शिष्य याज्ञवल्क्य से किसी बात पर रुष्ट हो गये और उससे कहा कि मेरी पढ़ी हुई विद्या को छोड़ दे, याज्ञवल्क्य ने उसी समय विद्या का वमन कर दिया, तब वैशम्पायन ने अपने और शिष्यों से कहा कि इसको खा लो, उन्होंने तीतर का रूप धारण कर उसको खा लिया। अतएव यह तैतरीयशाखा बन गई। यह वृत्तांत महीधर ने अपने यजुर्वेद भाष्य की भूमिका में लिखा है। इस लेख से तैतरीय शाखा की उत्पत्ति ज्ञात होगई और याज्ञवल्क्य ऋषि के समय का पता लग गया।

पाठक वृन्द ! यह गाथा वाममार्ग के प्रारम्भ की है अन्यथा वाममार्गियों में तो बडा सिद्ध वही कहलाता है जो वमन को भक्षण कर ले और इस गाथा में तीतर बनना इस बात को सिद्ध करता है कि उस समय वाममार्ग का विशेष प्रचार नहीं हुआ था और न इस प्रकार के सिद्ध उत्पन्न हुए थे—और जितने सूत्र आज कल दृष्टिगत होते हैं जिनमें पशुयज्ञ और माँसादि का विधान है उनमें अधिकतर तैतरीय शाखा, तैतरीआरण्यक और तैतरी ब्राह्मण के दिये जाते हैं जो वाममार्ग के समय में निर्मित हुए हैं और इन्हीं पुस्तकों में यज्ञ में पशुहिंसा बतलाई है अन्यथा पूर्वकाल में तो यज्ञ में हिंसा करना महापाप है जैसा ऋग्वेद के मन्त्र में लिखा है—

अग्नेयं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि स इद्देवेषु गच्छंति।

अर्थात् हे ज्ञानस्वरूप अग्निनाम परमात्मन् तेरा जो हिंसा रहित यज्ञ सारे संसार में व्याप्त हो रहा है वही यज्ञ इस स्थान से देवताओं को जाता है।

बहुत से महाशयों को इस में शंका होगी परन्तु वेद में कम से कम सौ जगह पर यज्ञ को हिंसा रहित बतलाया है और इस मन्तव्य की पुष्टि में अनेक उदाहरण पाये जाते हैं अर्थात् जिस समय विश्वामित्र ने यज्ञ किया था उस समय राक्षस लोग उनके यज्ञ में मांस-विष्ठादि डाल कर उसको अप-

विघ्न करते थे । यदि यज्ञ में हिंसा का निषेध न होता तो विश्वामित्र क्षत्रिय होने पर भी कभी राजा रामचन्द्र जी को सहायतार्थ न बुलाते क्योंकि यज्ञ में क्रोध करना पाप है और हिंसा विना क्रोध के हो नहीं सकती, इसमें और भी प्रमाण हैं ।

प्रिय पाठक ! इस का बहुत बड़ा सबूत यह है कि पारसियों को जब अग्निहोत्र का उपदेश हुआ था अर्थात् जिस समय व्यास व जरदुश्त का वार्तालाप हुआ और व्यास जी ने अग्निहोत्र का उपदेश किया उस समय तो केवल सुगन्धित, बलवर्धक और आरोग्य रखने वाले पदार्थों का हवन होता था जैसा कि पारसियों के रिवाज से प्रकट होता है परन्तु वाममार्ग फैल जाने के पश्चात् जो आर्य्यावर्त से अन्य देशों में शिक्षा पहुंची वहाँ यज्ञ के स्थान में पशु वध का प्रचार हो गया—जिस समय इस प्रकार चारों ओर वेदों के अर्थों का अनर्थ करके वेद के नाम से बहुत सी वाममार्गीय पुस्तकें और सूत्र बनाये तो सारे संसार में वेदों की निन्दा होने लगी जैसा कि चारवाक ने लिखा है—

त्रयोवेदस्यकर्त्तारो भांडधूर्तनिशाचराः ॥

अर्थात् तीनों वेदों के बनाने वाले भाड़, धूर्त्त और राक्षस हैं । जब इस तरह से वेदों की निंदा होती थी तो एक राजा की लड़की जिसको वैदिकधर्म में अति प्रीति थी शोक से यह कह रही थी ।

किं करोमि क्वगच्छामि को वेदानुद्धृष्यति ॥

अर्थात् क्या करूं, कहाँ जाऊं, कौन वेदों का उद्धार करेगा, उसकी इस बात को सुनकर कुमारिलभट्टाचार्य्य को इस बात का विचार उत्पन्न हुआ और उत्तर दिया:—

मा चिंत्यवरारोहि भट्टाचार्योस्तिभूतले ॥

अर्थात् ऐ धर्मानुरागिणी ! कुछ चिन्ता मत कर, वेदों के उद्धार के लिए भट्टाचार्य मौजूद हैं और कुमारिलभट्टाचार्य ने मीमांसा वार्तिक बना कर यज्ञों का नियम ठीक करने का प्रयत्न किया परन्तु वह पूरे तौर से कृतकार्य न हुए ।

जब इस प्रकार वाम मार्ग के अधिक प्रचार ने देश में दुराचार फैला

रक्खा था उसी समय कपिलवस्तु के राजा साखीसिंह गौतम को उसके दूर करने के हेतु वहुत भारी वचार पैदा हुआ, उन्होंने राज्य को छोड़ तप करना आरम्भ किया, जब अच्छी तरह ज्ञान हो गया तो उन्होंने हिंसक यज्ञों का खण्डन करना प्रारम्भ किया और उस समय जब वाममार्गी ब्राह्मण सब जातियों को सेवक बनाकर अधर्म में चला रहे थे उनके वर्णाश्रम का भी खडन आरम्भ किया, बुद्ध की शिक्षा अधिकतर वैदिक धर्म्मानुकूल थी परन्तु उस समय जो वाममार्ग के अनर्थों से वैदिक धर्म्म हो रहा था उससे बिल्कुल विरुद्ध थी, उस समय वाममार्गी ब्राह्मणों ने बौद्धमत के शास्त्रार्थ में वेदों के प्रमाण अर्थात् उसी वाममार्गी तैतरीय शाखा के प्रमाण देने आरम्भ किये, महात्मा बौद्ध देव जो कि संस्कृत के बड़े विद्वान तो थे ही नहीं, इस कारण स्वयं तो वेदार्थ विचार न सकते थे। दूसरे उस समय में वेदों के अनुकूल पुस्तकें भी कम प्राप्त होती थीं जिससे उनको भली भांति शिक्षा होती, जब उन्होंने देखा कि वेदों के जमघटे को साथ लेकर वाम मार्ग को दूर नहीं कर सकते हैं तो उसका उपाय उनको यही सूझा कि वेद को मानना छोड़ दें और जहाँ तक हो सके इन हिंसा करने वाले यज्ञों को बन्द करने के वास्ते अनेक प्रचार और उनकी जड़ वेदों के न्यून करने का प्रयत्न किया। अतएव उन्होंने शूद्रों से कार्य आरम्भ किया और थोड़े ही दिनों में सारे भारतवर्ष में हलचल मच गई। जब विरोधियों ने देखा कि गौतम वेदों को नहीं मानता तो उन्होंने उससे कहा कि वेद ईश्वर कृत हैं।

बुद्धदेव ने उत्तर दिया कि हम ऐसे ईश्वर को भी नहीं मानते जिसने ऐसी पुस्तकें बनाई हों जिसमें हिंसा करने का उपदेश हो। अस्तु इस प्रकार महात्मा बुद्धदेव धर्म के एक हिस्से को अपने मन्तव्यानुसार विषयुक्त समझकर उससे पृथक् हो गये और शेष भाग का प्रचार करने लगे, जब इस प्रकार से ज्ञान का मुख्य भाग अर्थात् जीव, प्रकृति, ईश्वर इन तीनों में से ईश्वर निकल गया और शेष दो तिहाई धर्म अर्थात् जीव और प्रकृति का प्रचार होता रहा।

प्यारे मित्रो! इस त्रुटि को पूरा करने के वास्ते स्वामी शंकराचार्य जी

महाराज ब्रह्म की सिद्धि के वास्ते कटिबद्ध हुए और सारे देश में भ्रमण कर बौद्धमत का खण्डन किया और जहाँ तक हो सका। अपना कुल समय ब्रह्म-सिद्धि में व्यय किया क्योंकि उस समय तक मनुष्यों में प्रकृति और जीव को छोड़कर दूसरे किसी स्थान में दिखलाना कठिन था इसलिए उन्होंने प्रत्येक वस्तु में दिखलाना शुरू किया और षट पदार्थ अनादि बतलाकर पांच को सान्त बतलाया। अभी महात्मा शंकराचार्य को अपना पूरा सिद्धान्त दिखलाने का अवसर मिला ही नहीं था कि देश के दुर्भाग्य से वह भारत का भानु इस असार संसार से चलता हुआ। परन्तु जितना काम इस महात्मा ने किया उससे मालूम होता है कि यदि इस ऋषि को दस वर्ष तक अधिक जीवित रहने का अवसर मिलता तो यह भारत का उद्धार कर देता और वैदिक धर्म को जो महाभारत के बाद हानि पहुंची थी उसकी पूर्ति हो जाती परन्तु तो भी २२ वर्ष की अवस्था से ३२ वर्ष की अवस्था तक इस ब्रह्म प्रचारक ने सामान्यतया आर्यवर्त्त में विशेषतया ब्रह्म को फैला दिया।

भ्रातृवर्गो! महात्मा शंकराचार्य के पश्चात् उनके चेले यद्यपि बड़े २ पण्डित हुए जिन्होंने अद्वैतवाद के सिद्ध करने के लिए सहस्रों नये प्रमाण गढ़े और सैकड़ों पुस्तकें लिख डालीं परन्तु वह वैदिक धर्म को उस मूलतत्त्व से बहुत दूर ले गये अर्थात् उन्होंने प्रकृति और जीव के अस्तित्व से बिलकुल इन्कार कर दिया और षट् अनादि मानकर पांच को अन्तवाला बतलाने के मन्तव्य को बिल्कुल न समझा, महात्मा शंकराचार्य का तो यह सिद्धान्त था कि जो वस्तु उत्पन्न होती है वह अनित्य है और जो उत्पत्ति से रहित है वह नित्य है।

अतएव यह छः पदार्थ अनादि अर्थात् उत्पत्ति शून्य हैं अतएव नित्य हैं परन्तु ब्रह्म तो सर्वव्यापक है अर्थात् वह अनन्त है और शेष पांच पदार्थ जीव, ईश्वर, माया, अविद्या और इनका संबंध यह पाँचों सीमाबद्ध हैं, यहाँ पर जीव के अर्थ बद्ध जीव के हैं और ईश्वर मुक्त जीव को कहते हैं अविद्या जीव का गुण है, माया प्रकृति का नाम है।

हमारे कुछ मित्र यह कहेंगे कि तुमने यह बात मन गढ़न्त कही है परन्तु जहां जीव का लक्षण किया है वहां अविद्या में युक्त चेतन को जीव माना है। अविद्या के दो अर्थ हो सकते हैं : एक तो ज्ञान का अभाव दूसरे विपरीत ज्ञान, अगर अविद्या के अर्थ ज्ञान के अभाव से मानें तो ठीक नहीं क्योंकि चेतन ज्ञान वाल को कहते हैं और जिसमें ज्ञान का अभाव है वह चेतन ही नहीं कहला सकता। इस हेतु से अविद्या के अर्थ विपरीत ज्ञान के माने जाते हैं, यहाँ उलटा ज्ञान बन्धन अर्थात् दुःखोत्पत्ति का कारण है और इसी के नाश से मुक्ति होती है जब मिथ्या ज्ञान का नाश हो गया तो उसमें अल्पज्ञता जो जीव का स्वाभाविक गुण है; मौजूद है, परन्तु मिथ्याज्ञान बिल्कुल अलग हो गया। अब यह बन्धन से खाली है इसी को शुद्ध सत्य प्रधान उपाधि सहित अर्थात् ईश्वर कहत हैं।

प्रिय पाठक ! क्योंकि आदि और अन्त दो प्रकार के होते हैं। एक तो देश योग से दूसरा काल योग से, जो वस्तु काल योग से आदि वाली है वह काल योग से अन्तवाली होगी। क्योंकि नदी एक किनारे की कहीं होती ही नहीं, जिसका आदि है उसका अन्त अवश्य है। और जो वस्तु देश योग से अनादि है वह देश योग से अनन्त भी होगी, परन्तु यह नहीं हो सकता कि जो वस्तु काल योग से अनादि है वह देश योग से भी अनन्त हो। क्योंकि परमाणु काल योग से अनादि है परन्तु देश योग से शान्त है यहां महात्मा शंकराचार्य का यह प्रयोजन था कि काल योग से छः वस्तुयें अनादि और अनन्त हैं परन्तु देश योग से पांच वस्तुयें आदि और अन्त वाली। केवल एक ब्रह्म ही अनन्त है।

सज्जन महाशयो ! महात्मा शंकराचार्य के प्रयोजन को न समझ कर लोगों ने ऐसे झगड़े उत्पन्न किये कि महात्मा शंकर का जो सिद्धान्त वैदिक धर्म की उस कमी को पूरा करने का था, जो महात्मा बुद्ध ने संस्कृत न जानने और पण्डितों के वाममार्गी होने के कारण अयुक्त समझ काट दिया था, परन्तु दुर्भाग्यवश शंकराचार्य के चेलों ने विना समझे या किसी अपने प्रयोजन से वैदिक धर्म्म के उस हिस्से को जिसको बुद्ध ने स्थिर रखा था बिल्कुल उड़ा

दिया । केवल वह भाग जिसको शंकराचार्य बुद्ध मत में मिलाकर उसकी त्रुटि को पूरा करना चाहते थे, उसी को रख लिया अर्थात् जीव, प्रकृति जिसको बौद्ध मत वाले मानते थे । शंकराचार्य इसमें ब्रह्म को मिला कर इसको पूरा वैदिक धर्म बनाना चाहते थे परन्तु उनके चेलों ने प्रकृति और जीव को उड़ा कर केवल ब्रह्म अर्थात एक तिहाई वैदिक धर्म का प्रचार शुरू किया और शेष पर विशेष ध्यान न दिया । अब वैदिक धर्म के दो भाग हो गए । एक बौद्ध मत दूसरा अद्वैतवाद । दो तिहाई भाग तो बौद्ध मत ने ले लिया और एक भाग शंकराचार्य के चेलों अर्थात् अद्वैतवादियों ने लिया परन्तु यह तिहाई भाग विशेषतः प्रकाशक और हितकारी था इस वास्त यह प्रबल पड़ा और पृथ्वी के प्रत्येक विभाग में फैल गया । ॥ इति ॥

स्वामी दयानन्द और उनका उद्देश्य ।

आज कल जितने मत मतान्तर आप संसार में देखते हैं वह लगभग सब ही इस वेद मत से निकले हुए हैं और जा बड़े २ सम्प्रदाय आज दीखते हैं वे तो केवल शंकर और बुद्ध के टुकडों से उत्पन्न हुए हैं । ईसाई मत तो बौद्ध धर्म्म से निकला हुआ है और इस्लाम शकर का शिष्य है । आप प्रश्न करेंगे ईसाई मत बौद्ध धर्म से कैसे निकला ? इसका प्रमाण यह है कि ईसाई मत की शिक्षा में बहुत सा भाग बौद्ध धर्म का दिखाई पडता है । जिस प्रकार कि पिता और पुत्र के रूप को देख कर तथा पिता को पुत्र से पहिले जान कर प्रत्येक मनुष्य अनुमान कर लेता है कि यह इसका पुत्र है, इसी प्रकार ईसाई मत और बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का मुकाबला तथा बौद्ध धर्म को इन देशों में ईसाई मत के पूर्व पाये जाने से स्पष्ट प्रकट होता है आज कल तो बहुत से विद्वान इस बात को मान रहे हैं कि ईसाई मत की शिक्षायें बौद्ध धर्म से ही ली गई हैं । गिरनार से जो लेख खुदे हुए मिले हैं उनसे विदित होता है कि बौद्ध धर्मावलम्बी सम्राट् अशोक ने अपने उपदेशकों को सिरिया में भेजा था और यूनानी महाराजों में संबन्ध

वनाया था। इसके अतिरिक्त प्रोफेसर महाजी मानते हैं कि बौद्ध धर्म ईसाई मत का कारण था और प्रोफेसर विन्सन, सिविल और लिली तो स्पष्टतया बौद्ध धर्म से निकला हुआ ही ईसाई मत को मानते हैं। फिर बौद्धधर्म में 'तसलीस' त्रयवाद है और ईसाई धर्म में भी यह है। सारांश यह है कि वहुत से प्रमाण मिलते हैं।

दूसरा इस्लाम शंकर के मत से निकला हुआ दिखाई देता है जिससे कि स्पष्ट प्रकट होता है कि इसी के समय में यूरोप तथा अन्य पाश्चात्य देशों में बौद्ध धर्म की शिक्षा का प्रचार हो चुका था परन्तु शंकर की शिक्षा बहुत समय के पीछे इन देशों में गई परन्तु मुहम्मद साहब के पूर्व शंकर के सिद्धान्त पश्चिम में फैल चुके थे। इस्लाम का कलमा स्पष्ट रूप से बताता है कि शंकराचार्य की शिक्षा से लिया गया अर्थात् 'ला इलाह इल्लिल्लाह, मुहम्मदरसूलिल्लाह, इसमें पूर्व खण्ड तो स्पष्ट रूप से इस श्रुति का अनुवाद है :—

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ॥"

अर्थात् एक ही ईश्वर है दूसरा कोई नहीं,हां, उत्तर खण्ड अवश्य आवश्यकता के कारण मिलाया है। यदि वे गूढ़दृष्टि से देखें तो उन्हें विदित हो जायगा कि जो मनुष्य एक ही ईश्वर से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं वह सब शंकर के शिष्य हैं।

प्रिय पाठकगण ! जब इस प्रकार एक वैदिक धर्म के दो भाग हो गये। इन भागों से भी सहस्रों शाखायें फूट निकलीं। जिस प्रकार एक नारंगी को देख कर कहा जाय कि यह एक है, परन्तु जिस समय उसका छिलका उतारते-हैं तो उसकी बहुत सी फांके पृथक्-पृथक् हो जाती हैं और जब इन फांकों को देखा जावे तो जीरा पृथक् पृथक् दिखाई देता है, इसी प्रकार एक वैदिक धर्म के खण्ड होते चले गये और जितने आचार्य हुए सबने प्रयत्न किया कि सम्पूर्ण संसार किसी प्रकार सत्य धर्म पर आजावे, परन्तु सब ने प्रकाश दीपकों का दिखाया, कहीं लैम्प और विद्युत प्रकाश का भी प्रबन्ध हुआ और कोई चंद्रमा तक पहुंच गया, परन्तु इन मनुष्य कृत प्रकाशों से मनुष्य

जाति में द्वेष बढ़ता चला गया। मनुष्य मात्र एक हो जाते इस के बदले पृथक् होते ही चले गये।

प्रिय पाठकगण ! यह तो आप जानते ही हैं कि जिस समय संसार में सूर्य का प्रकाश होता है उस समय प्रत्येक मनुष्य को अपने घर में प्रकाश दीखता है और वह बाहर भी प्रकाश ही प्रकाश देखता है। केवल यह विचार तो उसे होता है कि जिनके चक्षु दूषित हो गये हैं, अथवा जिसने चक्षुओं पर आवरण कर लिया हो उसके लिए तो प्रकाश नहीं, अन्यथा समस्त संसार में प्रकाश है। परन्तु जिस समय सूर्य्य के प्रकाश के बदले सहस्रों दीपक भांति-भांति के प्रकाशित हो जाते हैं उस समय जो जिस दीपक को अपने पास पाता है उसको तो प्रकाशित समझता है और शेष समस्त संसार को अन्धकारमय। यहीं दशा मनुष्यों के मतों की है। वह अपने मत को सत्य और दूसरों के मत को बुरा समझते हैं परन्तु ईश्वरीय धर्म्म मे यह बात नही. वह प्रत्येक को उत्तम जानते हैं, यह केवल उसको बुरा समझते हैं जिनके कि कर्म दूषित हैं अथवा जिनकी बुद्धि पर अज्ञान का आवरण पड़ा हो।

प्रिय पाठकगण ! जब सूर्यास्त हो जाता है उस समय संसार की यह दशा हो जाती है कि एक ओर तो सिंह अपने भिटों से निकलकर प्राणियों को दुःख पहुंचाते हैं, दूसरी ओर अन्य रुधिरामिषभोजी भयंकर पशु भी घूमना आरम्भ कर देते हैं। इधर चोर और डाकू भी अपनी पूर्ण शक्ति से कार्यारम्भ कर देते हैं, जिधर देखो उधर संसारी जीवों को दुःखद शक्ति आ एकत्रित होती है। दीपकों का प्रकाश उनके सहस्रों और लक्षों की संख्या में होने पर भी उनकी बुराइयों को दूर नहीं कर सकता। यही दशा आध्यात्मिक सृष्टि की है। जिस समय ईश्वरीय विद्या की शिक्षा बन्द हो जाती है उस समय प्रथम तो प्रत्येक में स्वार्थ, दम्भ और कीर्ति आदि दोष आजाते हैं, इसके पश्चात् अनृत, धोखा, हत्या (कतले आम) और मुकद्दमाबाजी अधार्मिकता और विश्वासघात जैसे अत्याचारी रुधिर के प्यासे बैरी संसार में आ उपस्थित होते हैं, और ससार के मनुष्यों को उनके उद्देश्य के मार्ग से हटा

कर नाना प्रकार के दु:खों में डाल देत हैं ।

प्रिय पाठकगण ! जिस समय स्वामी दयानन्द का जन्म हुआ था । यथार्थ में उस समय यही दशा हो रही थी । वैदिक धर्म्म के अस्त हो जाने से एक ओर तो कुरानियों के दीपक जल रहे थे, वे अपने धर्म्म को ही समस्त संसार मे उत्तम बता रहे थे । दूसरी ओर ईसाई मत का विद्युत प्रकाश ससार भर में उत्तम होने का दावा रखता था, तीसरी ओर बौद्ध धर्म्म का दीपक भी पूर्ण उन्नति अवस्था में अपने को सर्वोत्तम सिद्ध कर रहा था । चौथी ओर भारत के साम्प्रदायिक धर्म्म 'शाक्तिक, वैष्णव, गाणपत्य और सौर्य्य आदक' अपने ही टिमटिमाते हुए दीपकों को सारे संसार में सब से अधिक प्रकाशित समझते थे । पांचवीं ओर सहस्रों प्रकार के वेशधारी 'गोस्वामी, वैरागी, दादूपंथी, निर्मले, रामस्नेही और कबीर पंथी आदिक' अपने धर्म्म को सर्वश्रेष्ठ बता रहे थे ।

प्रिय पाठकगण ! ये समस्त मत एक दूसरे के विरोध पर कटिबद्ध थे । अपने मत को उत्तम और दूसरों को बुरा बता रहे थे । जब मुसलमान अपने धर्म को अच्छा कहते थे तो दूसरी ओर से दिखाया जाता था कि तुम्हारे धर्म्म में अत्याचार के अतिरिक्त और कोई उत्तमता ही नहीं दिखाई देती । यही दशा ईसाइयों की तसलीस के आक्षेपों की हो रही थी । हिन्दू विचारे बहुत ही पतित अवस्था में थे । ये अपने धर्म्म से नितान्त अनभिज्ञ थे । छोटे-छोटे पादरी और मौलवी जब बड़े-बड़े हिन्दू पण्डितों से शास्त्रार्थ करने को उद्यत होते थे तो दीन हिन्दू पण्डित घबराते फिरते थे । यद्यपि हिन्दू धर्म्म सब से अधिक युक्ति-संगत तथा इसके शास्त्र सब से अधिक पूर्णता को प्राप्त थे, परन्तु साम्प्रदायिक दोषों के मल ने हिन्दूओं को अपने वास्तविक धर्म्म से बहुत दूर गिरा दिया था । अतः हिन्दू धर्म्म का स्वर्ण साम्प्रदायिक खोट की मिलावट के कारण बुद्धि की कसौटी पर खरा उतरने योग्य न था । इस समय आवश्यकता थी कि एक पूर्ण विद्वान् आये और सत्य धर्म्म का पता बताये ।

प्रिय पाठकगण ! ऐसे भयंकर रोग के लिए जब कि शरीर के अवयव पृथक्-प्रथक् हो जावें और बहुत से रोग एकत्रित होकर शरीर को नाश करना चाहें उस समय कितनी विद्वत्ता तथा परिश्रम की आवश्यकता है। इसको तो आप भली-भांति समझ गये होंगे कि स्वामी दयानन्द के आने के पूर्व यही दशा वैदिक धर्म की हो रही थी। स्वामी दयानन्द ने संसार में आते ही इस रोग के निदानार्थ इसकी नाड़ी को देखा और जाना कि अन्धकार ने इसे बहुत ही दुखी कर रक्खा है और जहां-कहीं दीपकों का प्रकाश है उसने और भी अवयवों को पृथक्-पृथक् कर दिया है। इस योग्य वैद्य ने इसके रोग का कारण जान कर औषधि बनाई और विचार किया कि यावत् इनको पूर्णतया प्रकाश न मिलेगा तावत इन रोगों की चिकित्सा असम्भव है और जब तक कि यह पृथक्-पृथक् दीपक बुझकर एक ही प्रकाश पर सब काम न करने लगें उस समय तक उचित चिकित्सा नहीं हो सकती और दीपकों में कोई भी इस योग्य नहीं कि जो समस्त संसार को प्रकाशित कर सके। दूसरे दीपक का प्रकाश कभी वायु से निर्भय नहीं हो सकता इसलिए मनुष्य इस प्रकाश के आधार पर बैठ तो सकते हैं परन्तु अपने उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकते। अतः इन दीपकों में कोई भी इस योग्य नहीं जिससे कि काम निकल सके। अब उसने विचार करना आरम्भ किया कि इन दीपकों में पहिले कौन सा प्रकाश था जिसकी किरणों से यह दीपक जलते हैं। उसने सोचा कि नानक साहब दादूजी और कबीरदास के दीपक तो ४०० वर्ष पूर्व न थे और बल्लभ आदि को लगभग इतना ही समय हुआ। रामानुज और चैतन्य आदिक भी आठ सौ वर्ष पूर्व न थे। मुहम्मद साहेब का इस्लाम और कुरान १३ सौ वर्ष पूर्व समय में नहीं था। ईसा, शंकराचार्य्य, बुद्ध और जैन आदि भी ढाई सहस्र वर्ष से पूर्व नहीं सिद्ध होते। चार्वाक् आदिक ३ सहस्र वर्ष तक पहुंचते हैं। मंजूसियों की जबूर और तौरेत भी ३४ सौ वर्ष से पूर्व विद्यमान न थे। पारसियों की पुस्तक जिन्दावस्था भी ४५ सौ वर्ष तक का प्रमाण देती है। वाममार्गियों

के मत का पता ४८ सौ वर्ष तक मिलता है। अब इसके आगे किसी मत के लैम्प का पता नहीं चलता। दूसरे यह भी विदित किया कि संसार की प्रत्येक जाति न्यून से न्यून सात सहस्र वर्ष से सृष्टि की उत्पत्ति मानती है और उनकी इलहामी किताबें (ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तकें) ४५ सौ वर्ष से आगे नहीं जातीं तो क्या ईश्वर ने २५ सौ वर्ष तक मनुष्यों को अपने आदेश से अज्ञान में रखकर दुःख दिया होगा ? सम्भव नहीं प्रतीत होता कि सर्व-शक्तिमान और सर्वज्ञ होते हुए भी ईश्वर इस प्रकार संसार के राजा की भाँति पहले तो (सृष्टि को) अन्धकार में रक्खे और फिर अपूर्ण नियम भेजता रहे और सर्वदा प्रकाश दिखलाता रहे। ईश्वर के रचित संसार से उस के ज्ञान का पूर्ण होना प्रकट होता है। परमेश्वर ने मनुष्य की आँखों के लिए सूर्य बनाया है, उसको आज पर्य्यन्त बदलने की आवश्यकता नहीं हुई और न सृष्टि के अन्त तक है और कानों की सहायता के लिये आकाश बनाया है उसे भी बदलने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार जिन इन्द्रियों की सहायतार्थ जो पदार्थ बनाये उनमें से किसी को भी बदलने की आवश्यकता नहीं हुई। फिर कैसे सम्भव हो सकता है कि मनुष्य के सर्वोत्तम पदार्थ और आन्तरिक एवं सूक्ष्म वस्तुओं के जानने योग्य साधन अर्थात् बुद्धि के सहायतार्थ जो सूर्य अपनी विद्या का उसने दिया हो तो उसको बारम्बार बदलने की आवश्यकता पड़े। सुतराम् ज्ञात हुआ कि संसार में जो प्रकाश उत्पन्न हुआ है यह सब मनुष्य कृत है और सृष्टि के आदि में प्रकट हुआ है, जिसकी उत्पत्ति का समय मनुष्य की बुद्धि से बाहर है, ईश्वरीय प्रकाश है।

प्रिय पाठकगण ! उसके साथ ही जब उस महात्मा ने यह विचार किया—कि इन में से कौन ऐसा प्रकाश है जिसको वायु से भय नहीं। जहाँ तक उसने खोज की, जाना कि अपूर्ण दीपक तो वायु से घबड़ाते हैं अर्थात् तक द्वारा अपने लिए सिद्ध नहीं कर सकते। प्रत्येक मत जो मनुष्य कृत था यह कहता हुआ दिखाई दिया कि मजहब (धर्म) में अकल (बुद्धि) को दखल (प्रवेश) नहीं। इसके पीछे उस ने तर्क शास्त्र का खोज आरम्भ किया। जहाँ

पर वैशेषिक शास्त्र के बनाने में महर्षि कहते हुए दीख पड़े—

बुद्धि पूर्वा वाक्य कृतिर्वेदे ।

अर्थात् वेद में जो कुछ लिखा हुआ है वह बुद्धिपूर्वक है । अर्थात वेद की बात को तर्क का भय नहीं, क्योंकि वे सर्वज्ञ से उत्पन्न हुए हैं ।

प्रिय पाठकगण ! जब महर्षि ने वेद की प्रशंसा तर्क शास्त्र में देखी और वेदों में भी गायत्री मन्त्र के अर्थों को विचारा तो स्पष्ट विदित हुआ कि बुद्धि के बढ़ाने का साधन केवल वेद ही है । अब विचार हुआ कि और लोग तो धर्म्म में बुद्धि का काम में लाने से रोकते हैं और गौतम धर्म्म में बुद्धि को बढ़ाकर काम में लेने की आज्ञा देते हैं । इसलिये वेद अवश्य पूर्ण ज्ञान है । साथ ही यह भी पता चला कि इस समय जो वेद के मानने वाले हैं इस अज्ञ और मूर्खता में पड़े हुए हैं इसका क्या कारण हैं ? जब देखा कि मनुष्य जिस काम को वेदानुकूल मान कर उसके करने में उनके मन्त्रों के अर्थ से अनभिज्ञ हैं और वैसे ही बिना जाने पूछे अपने भ्रम वश मनमाने वेद मन्त्र उच्चारण करते हैं जैसे कि शनिश्चर की पूजा 'शन्नों देवीति' इस मन्त्र से की जाती है । इस से प्रकट हो गया कि मनुष्य वेदार्थ तनिक भी नहीं जानते और विवाह पद्धति आदि सब ही बिना अर्थ जाने रीति की भाँति भुगताई जाती है । संध्यादि नित्यकर्मों के अर्थों से तो ये लोग नितान्त अनभिज्ञ थे । सारांश यह कि हर प्रकार अविद्या के कारण वेदार्थ का अज्ञान ही समझ में आया फिर विचार हुआ कि क्या इतने पंडित भारतवर्ष में हैं वे— वेदार्थ के जानने वाले नहीं । जब पण्डितों से मिल कर देखा तो और भी आश्चर्य हुआ कि मनुष्य वेदों के अर्थ से बहुत दूर जा पड़े हैं और अपने अज्ञानवश नवीन ग्रंथों को वेद समझने में लग गए हैं । बहुधा मनुष्य तो उन श्रौतसूत्रों को जो वाममार्ग के समय में बने, वेद बता रहे थे । यह नहीं देखते थे कि इन सूत्रों में स्थान-स्थान पर तैत्तरीय शाखा के प्रमाण हैं और तैत्तरीय शाखा याज्ञवल्क्य के पीछे आती हैं और याज्ञवल्क्य जी व्यास जी के पीछे जन्मे । मानो तैत्तरीय शाखा इसी कलियुग की बनी हुई है और ऐतरेय ब्राह्मण,

तैत्तरीय, आरण्यक और तैत्तरीय प्रातिशाख्य आदि तो इसमें भी पीछे बने हैं। तो वह सूत्र जिनमें इनके भी बहुत समय उपरांत बने। सारांश यह कि यह श्रौतसूत्र आदिक ३ सहस्त्र वर्ष से पूर्व के नहीं ठहरते। कतिपय मनुष्य उपनिषदों को वेद कहते हैं परन्तु यह भी सत्य नहीं, क्योंकि उपनिषदों में याज्ञवल्क्य तैत्तरीय श्वेतकेतु, जाबालि और यम आदिक ऋषियों के शास्त्रार्थ लिखे गये और वेद सृष्टि के आदि में अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा पर प्रकट हुए थे। अतः जो पुस्तक सृष्टि के मध्य में बनी; वेद नहीं कहला सकती।

कतिपय मनुष्य ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद कहते हैं। परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इतिहास भरा हुआ है, दूसरे वे वेदों के मन्त्रों से प्रतीक को लेकर व्याख्या करते हैं। अतः वह वेद नहीं वरन् वेदों का व्याख्यान है।

जब स्वामी दयानन्द ने देखा कि बहुत से पुस्तक आज कल वेद के नाम से बना लिये गये हैं, तो उन्होंने वहन परिश्रम से अन्वेषण किया और अन्त में पता चला कि चार वेद संहिता अनादि हैं। अब एक बात और प्रकट हुई, बहुत से मनुष्य यह कहते हैं कि आदि में वेद एक था परन्तु व्यास जी ने इसको चार में विभाजित किया। अब इस में यह खोज हुई कि इसका कारण क्या है, क्योंकि प्रथम तो स्वयं वेद में चारों वेदों का पृथक-पृथक् होना वर्णन है। दूसरे ब्राह्मण ग्रंथों में भी चारों वेद भिन्न-भिन्न ऋषियों पर उतरे माने गये हैं और मनु आदि भी चारों वेदो का होना मानते हैं, यह एक वेद का होना कहाँ से लिया गया। जब टटोल की गई तो उसका कारण भी महीधर भाष्य की भूमिका में से एक गाथा जान पड़ी और वह इस प्रकार है कि व्यास जी ने मनुष्यों की निर्बल बुद्धि देखकर चारों वेद बांट कर वैशम्पायन आदि अपने शिष्यों को पढ़ाये, जब इसकी खोज की तो प्रकट हुआ कि आजकल जो ऋग्वेदी, यजुर्वेदी, सामवेदी और अथर्व वेदी ब्राह्मणों की जो संज्ञा हैं इसी में वेदों का विभाजित होना महीधर का तात्पर्य है।

रामायण सार

श्री रामचन्द्र जी के भक्तो ! दिन-रात रामायण के पढ़ने वालो ! महाराज रामचन्द्र जी को अपना बड़ा मानने वालो ! देश के क्षत्रिय जनो ! आप सर्वथा रामायण को जो आर्य्यकुल भूषण, क्षत्री कुल दिवाकर वेदवित् वेदोक्त कर्म प्रचारक, देश रक्षक, शूर, सिरताज, रघुकुल भानु दशरथात्मज महाराजाधिराज महाराज रामचन्द्र जी का जीवन चरित्र हैं सदा पढ़ते-सुनते हैं परन्तु शोक है कि आप उस महानुभाव के दैवी जीवन से कुछ भी लाभ नहीं उठाते। महाशयो ! यह राम चरित्र ऐसा उत्तम है कि यदि मनुष्य इसके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करें तो अवश्य मुक्त पद को प्राप्त हो जायें।

महाशयो ! रामायण के आदि में महाराज के जन्म का वृतान्त लिखा है जिससे बोध होता है कि हमारे देश के राजाओं को जब सन्तान की आवश्यता होती थी तब वे लोग विद्वान ब्राह्मणों को बुलाकर यज्ञ कराते थे और इस समय के लोगों की भांति गाजीमियाँ और मसजिदों या इस प्रकार के ढकोसले न करते थे वे कभी सण्डों और मुष्टण्डों से सन्तान न चाहते थे। वे गूंगापीर और मसानी को न मानते थे, वे टांने और धागे न कराते थे। यह सब बातें आपको महाराज रामचन्द्र जी के जन्म से प्राप्त होती हैं। हे रामायण के पढ़ने वालो ! शीघ्र ऐसी मूर्खता की बातों को त्याग यज्ञादि कर्म प्रारम्भ कराओ। पुनः महाराज का वशिष्ठजी से विद्या अभ्यास करना है जिससे बोध होता है कि पूर्व समय में सब क्षत्रिय, ब्राह्मण वैश्व द्विजातिमात्र पढ़ते थे, आजकल की भांति यह न था कि विद्या पढ़ना आजीविका के लिये समझें किन्तु विद्याभ्यास मनुष्यत्व का हेतु माना जाता था। मूर्ख को मनुष्य संज्ञा ही न मिलती थी। अब रामायण के पढ़ने वालो ! शीघ्र विद्याभ्यास करो और उस वेद विद्या जिसको महाराज रामचन्द्र जी ने पढ़ा था; संसार में फैलाओ। उससे आगे महाराज रामचन्द्र जी का बिश्वामित्र के साथ जाना है जो इस बात का पूरा प्रमाण है कि पूर्व समय में विद्वानों और

तपस्वियों का कैसा मान था । देखो; राजा दशरथ ने प्राणों से अधिक प्यारे दोनों पुत्र विश्वामित्र को दे दिये, दूसरे उस काल में क्षत्रियों के बालक ऐसे बली होते थे जो रामचन्द्र जी ने इस छोटी सी अवस्था में ऋषि के साथ वन में जाने से भय नहीं खाया और दोनों भाइयों ने सहस्रों राक्षसों को मार डाला । यह सब ब्रह्मचर्य विद्या, और धर्म का प्रताप देखकर भी हम लोग धर्म नहीं करते । फिर रामचन्द्र जी का जनकपुर धनुष तोडना लिखा है इससे भी उनके बल की प्रशंसा प्रतीत होती है, इसके आगे महाराजा रामचन्द्र जी के विवाह का वृत्तान्त है जिससे यह विदित होता है कि उस काल में स्वयवर की रीति थी और आज कल की भांति गुड़िया-गुड्ढे का विवाह अर्थात बाल-विवाह का प्रचार न था कन्या और वर दोनों ब्रह्मचर्य का पालन करते थे और जब पूर्ण विद्वान और बल वीर्य पुष्ट हो जाता था तब शादी करते थे जिससे सदा पति और पत्नी में प्रीति रहती थी और उनके गृहस्थाश्रम कैसे सुख से व्यतीत होते थे, सन्तान पुष्ट और शुद्ध बुद्धि उत्पन्न होती थी ।

क्यों रामायण के मानने वालो ! आप क्यों बाल-विवाह करके अपनी सन्तान को नष्ट करते हो, इसके पश्चात् महाराज को राज मिलने ।ा लेख है और केकई के आदेश से महाराज का बन को जाना और दशरथ महाराज की मृत्यु लिखी है इससे क्या ज्ञात होता है कि प्रथम तो यह कि नीच के सग से सदा हानि होती है । देखो; केकई ने मंथराके संग अपना सुहाग नष्ट किया, संसार को दुःख दिया, जगत में अपयश लिया, जिस पुत्र के लिए यह अधर्म किया था उस पुत्र ने भी उसको बुरा कहा । क्या इससे कुसंग से बचने की शिक्षा नहीं मिलती । जो लोग अधर्म करते हैं उनके घर के लोग भी उनको बुरा कहते हैं दूसरे महाराज दशरथ ने राज को त्याग दिया, अपने पुत्र प्यारे नहीं; नहीं; नयनों के तारे को चौदह वर्ष का वनवास दिया, अपने प्राणों का भी वियोग स्वीकार किया, परन्तु अपना वचन न जाने दिया और संसार भर में यश लिया और संसार को यह शिक्षा दी कि मनुष्य को जो कुछ किसी को देना हो; शीघ्र दे दे परन्तु किसी से प्रतिज्ञा न करे, न जाने कौन

कैसा समय आ जावे। क्योंकि राजा दशरथ कैकेयी को उसी समय वर देते तो उनको यह कष्ट और पुत्र का वियोग सहना न पड़ता। इस जगह पर और भी बहुत सी शिक्षा मिलती है—जैसे अन्धी-अन्धा अपने पुत्र श्रवण की मृत्यु से मर गये उसके फल से राजा दशरथ भी अपने पुत्र के वियोग से मरे! महाराज रामचन्द्रजी के वन-गमन में लक्ष्मण जी का संग जाना। देखो उस समय के लोग कैसे पिता के भक्त होते थे कि महाराज रामचन्द्र जी ने पिता के कहने से राज ही नहीं त्यागा किन्तु वनवास स्वीकार किया। क्या आज कल रामायण के पढ़ने वाले अपने मित्रों की आज्ञा पालन करते हैं? दूसरे लक्ष्मण जी का संग जाना भाइयों की प्रीति का प्रमाण देता है। लक्ष्मण जी ने भाई के लिये देश, माता,सुख सब त्याग कर दिया। सच्चे भाइयों की प्रीति ऐसी होती है। क्या आज कल के रामायण पढ़ने वाले कभी अपने भाइयों से ऐसी प्रीति करते हैं। महाराज के संग सीता जी का वन-गमन लिखा है जिससे स्वयम्वर की रीति का गुण और सीता जी का पातिव्रत धर्म झलकता है। क्या आज कल के लोग बाल-विवाह से इस पातिव्रत धर्म की आशा रखते हैं? सीता जी ने अपने पति के लिये माता-पिता-सास राजगृह सुख सब त्याग कर दिया। पति के संग वन-वन घूमना स्वीकार किया और पति के बिना सब सुखों को दुख स्वरूप समझा। आह क्या पतिव्रत धर्म्म उस समय देश में प्रचलित था। आज कल की बाल-विवाह की पत्नी तो सदा मेलों में, गंगा किनारे, मन्दिरों में घूमना धर्म समझती हैं। इस सच्चे पतिव्रत धर्म का लेश भी नहीं रहा।

फिर महाराजा भरत का रामचन्द्र जी को लेने जाना लिखा है। वह क्या ही देश के सौभाग्य का समय था कि अधिकारी के अधिकार का इतना ध्यान रक्खा जाता था। भरत जी ने राज की तृष्णा नहीं की, सब से अधिक भाई की प्रीति दिखाई। फिर वन में शूर्पनखा रावण की बहिन का रामचन्द्र जी के पास जाकर विवाह करने की प्रार्थना करना और महाराज का उसको मना करना, उसका न मानना और हठ करना, लक्ष्मण जी का उसकी नाक

काटना है इससे महाराज रामचन्द्र का एक ही स्त्री से सन्तुष्ट रहकर परस्त्री गमन वा एक स्त्री के होते हुए दूसरी स्त्री से विवाह करने से घृणा करना है। क्या रामायण के पढ़ने वाले, यहाँ से परस्त्री गमन के दोष का त्याग न करेंगे? प्यारे देशवासियो! शीघ्र पर-स्त्री-गमन जैसे घोर पाप को त्यागो। यह भी यौवन के विवाह का फल है कि पति और पत्नी में ऐसी प्रीति है कि वह उसके लिए घर-बार त्याग दे, वह उसके लिये संसार भर की स्त्रियों का काक-विष्टा के समान माने।

इससे यह भी शिक्षा मिलती है कि जो अधर्म पर हठ करता है उसकी नाक काटी जाती है और वीर क्षत्रिय गण ऐसे हठी और दुराचारी को सदा दण्ड ही दिया करते थे। फिर इसके पश्चात् रावण का योगी स्वरूप में आना है इससे ज्ञात होता है कि जब दुष्ट अपने में बल नहीं देखता तब इसी प्रकार के छल करके सत्पुरुषों को कष्ट देता है और इससे यह भी ज्ञात होता है कि किसी के बाह्य स्वरूप पर न भूलना चाहिए क्यों कि दुष्ट जन भी अच्छे पुरुषों का आकार बना सकते है। शोक है कि इस बात को भी देख कर हमारे देशवासी अपनी स्त्रियों को मुष्टण्डे भेषधारियों के पास जाने से नहीं रोकते। जब सीता ऐसी पतिव्रता स्त्री को यह कपटी पुरुष धोखा देकर निकाल लेगया तो और को क्या समझते हैं। इसके पश्चात् जटायु का रावण के साथ युद्ध करके प्राण देना लिखा है जिससे सच्चे मित्रों का मित्र भाव ज्ञात होता है। जटायु ने प्राण दिए परन्तु जीते जी अपने मित्र दशरथ की पतोहू को दुष्ट रावण से बचाया। क्या रामायणी इस पक्षी से न्यून अपने मित्रों के साथ उपकार करेंगे। उसके आगे रामचन्द्रजी का सीता से वियोग और विलाप है जिससे ज्ञात होता है कि संसार के संयोग का वियोग अच्छे-अच्छे महात्माओं को घबरा देता है, उसके पश्चात् रामचन्द्र जी को सुग्रीव का मिलना है जिससे ज्ञात होता है कि संसार में दो प्राणियों के मेल से दोनों का कार्य सिद्ध होता है और रामचन्द्र जी का बालि को मारना है इससे ज्ञात ही है कि जो किसी से शत्रुता रखता है उसका अवश्य एक दिन नाश हो

जाता है।

महाराज का समुद्र का पुल बांधना है जो उस समय की विशाल विद्या और उन महात्माओं के ऐसे प्रयत्न का साक्षी है और इससे यह भी सिद्ध होता है कि यदि मनुष्य दृढ़व्रत रखता हो तो अवश्य कृतकार्य होगा। इसके पश्चात् विभीषण का रावण से विरुद्ध हो कर रामचन्द्र जी से मिलना है इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जब बुरे दिन आते हैं तब भाई भी शत्रु बन जाते हैं और जिस घर में दो मत हैं वह एक दिन अवश्य नष्ट होगा; कारण यह है कि रावण और विभीषण का एक मत न था इसी से विभीषण उससे अप्रसन्न हो गया और यही मतवाद भारत का नाशक है और तीसरे यह भी ज्ञात होता है कि जब घर फूटा तब शीघ्र सत्यानाश हो जाता है। इससे हे सज्जन पुरुषो! तुम सदा फूट से अलग रहो, हे रामायण के पढ़ने वालो! तुम कभी भी अपने भाई से विरोध न करो और मतवाद को नष्ट करो इसके पश्चात् रावणादि का महाराजा रामचन्द्रादि के हाथ से मारा जाना है जिससे ज्ञात होता है कि जो आदमी अपने से बढ़कर छल के आश्रय काम करता है वह अवश्य नष्ट हो जाता है। देखो रावण ने रामचन्द्र के बल को जान कर यह ढीठपना किया कारण यह है कि यदि वह रामचन्द्र के बल को न जानता तो पहले ही बल से लाता हुआ छल न करता। रावण का छल करना ही उसकी निर्बलता को प्रकट करता है। रावण ने जानबूझकर यह कार्य किया अन्त में नष्ट हो गया। इससे यह भी ज्ञात होता है कि जो लोग झूंठे अभिमानी मनुष्य के भरोसे संसार से बिगाड़ते हैं और उसके गन्दे व्यवहारों को नहीं विचारते वह सदैव हानि उठाते हैं।

देखो, यदि रावण के साथी इस बात का विचार करते हैं कि जो रावण चोरी करके सीता को लाया है वह कभी रामचन्द्र जी से विरोध न करते तो उनका नाश न होता और दूसरे रावण ने इतने जोर पर भी पाप किया उसका फल पाया, जो पर-स्त्री पर कुदृष्टि करेगा उसकी यही दशा होगी? इसके अतिरिक्त और भी बहुत से अशुभ फल प्रतीत होते हैं। शोक है कि हमारे देश के लोग रामायण पढ़ते हैं, नित्य रामलीला देखते हैं परन्तु उसका

विचार कुछ भी नहीं करते, उनका लीला देखना या नित्य रामायण पढ़ना ऐसा है जैसे एक बकरी बाग में जाती है वह कोई ग्रास घास का लगाती है, कहीं पत्तों पर मुंह मारती है, उसको बाग और जंगल एक सम है, हानिकारक स्थलोंसे हानि तो उठाती है, वन में गढ़े में गिर पड़ तो टांग टूट जाय परन्तु बाग से कुछ भी उपयोगी सिद्धान्त नही निकालती? इसी प्रकार हमारे देश भाई यदि कुमार्ग की पुस्तकों को पढ़ते हैं तो शीघ्र उसमें पड़ जाते हैं परन्तु सुमार्ग की पुस्तकें सदा पढ़ें उन से कुछ फल नहीं निकालते। यदि बहुत किया तो कहीं की दो-चार चौपाई कण्ठ कर लीं और जब कभी बातचीत हुई तो अपना पाण्डित्य जताने को सभा में कह दीं। मैं बहुत से लोगों को रामायण पढता देखता हूं परन्तु उसके अनुकूल आचार करने वाले बहुत ही न्यून हैं। अब इस रामायण सार का सूक्ष्मता से आशय कहते हैं।

रामायण में महावीर जी के चरित्रों से सच्चे सेवकों का व्यवहार जान पड़ता है और रावण के इतिहास स जाना जाता है कि जो कुल में एक भी दुष्ट पुरुष उत्पन्न हो जाये तो सारे कुल को नष्ट कर देता है। दूसरे रावण पुलस्त्य मुनि का पौत्र था, शिव जी का भक्त था, वेदों का पण्डित था, परन्तु इतने पर भी मांस खाने व मदिरा पान और पर-स्त्री गमन करने से उसकी पदवी राक्षस की हो गई। अब तो रामायण पढ़ने वाले लाखों दुराचार करते हैं परन्तु अपने आप को साधु और ब्राह्मण ही मानते हैं। देखो महात्मा लोगो! विचारो जिस पर-स्त्री गमन ने रावण को राक्षस बना दिया, क्या जो अब करेंगे वह राक्षस नहीं? रावण शिव का भक्त था परन्तु मांसाहार ने उसको राक्षस बना दिया, रामायण के पढ़ने वाले शीघ्र इस राक्षसी व्यवहार को त्याग दो और पर-स्त्री गमन तथा मादक द्रव्य का सेवन और मांस भक्षण का शीघ्र त्याग करो और रामायण से जो शिक्षा मिलती है उसे संसार में प्रचार करो। यज्ञादिक कर्म करो। वर्णाश्रम धर्म को ग्रहण करो। सम्प्रदाय को मिलाओ, वेद का प्रचार करो! विद्या को पढ़ो! पढ़ाओ! विद्वान्-तपस्वियों का मान करो। मूर्ख भेषधारियों का अपमान करो! मूर्ख

भेषधारियों से बचो ! ब्राह्मण भेषधारियों से बचो। ब्राह्मण वेद का अभ्यास करें, क्षत्रिय वीर बनें ! बाल-विवाह को दूर करो ? ब्रह्मचर्य का प्रचार करो। वर-कन्या का गुण कर्म की योग्यता अनुसार विवाह करो ऐसा न करो कि ६० वर्ष का वर और नौ बरस की कन्या। दादे और पोती की शादी। हजार दो हजार रुपये के लोभ से कर देते हैं। और थोड़े दिनों में वह राँड होकर कुल-कलंकनी हो जाती है। हे रामायण के पढ़ने वालो ! अयोग्य से लालच वश विवाह मत करो ! धर्म को नष्ट मत करो ! मात-पिता की आज्ञा पालन करो ! माता को देवता मानो। उनकी श्रद्धा पूर्वक सेवा करो। भाइयों से प्रीति रक्खो। थोड़ी बातों में उनसे विरोध मत करो। और जहां तक हो सके प्राणान्त पर्यन्त भाई को कष्ट मत दो। यदि तुम इस प्रकार से जीवन व्यतीत करोगे तो अत्यन्त सुख होगा। अपनी स्त्रियों को पतिव्रत धर्म सिखलाओ, तुम स्वयं स्त्री व्रत धारण करो, स्त्रियों को मुष्टण्डे साधुओं के पास मत जाने दो। दुराचारी पुंजारियों से अर्थात् पूजा के शत्रुओं से मन्दिरों में अकेले जाने से रोको, उनको समझाओ, स्त्री का पति ही देवता है, पति को छोड़कर जो स्त्री दूसरे देवता का पूजन करती है उसका धर्म नष्ट हो जाता है। आप कभी पर-स्त्री गमन मत करो। सदा वेश्याओं से बचो। कुसंग न करो। कुढ़ंगों से बचो ! मित्रों को लाभ पहुंचाओ। आपस में मेल करो ; घर में फूट मत करो। दृढ़व्रत रहो, जिस काम में लगो पूरा करके छोड़ो, धर्म-विषय को विचारा करो, मूर्खता से हठ मत फैलाओ, आपस में मत-भेद मत करो, एक वर्णाश्रमी वैदिक धर्म के अनुकूल चलो, जहां तक बने सच्चे महात्माओं की सेवा करो। हे पाठको ; यह सब कार्य करने से आप के राम चन्द्र जी की भक्ति पूर्ण होगी और तुम सदा सुख पाओगे, नहीं तो तुमको कुछ फल न होगा। बहुधा मनुष्य परमेश्वर का भजन करते हैं, उनको फल नहीं होता, कारण यह है कि मनुष्य पूर्व दोषों से अर्थात् काम, क्रोध रागादि से बचें तो ईश्वर भजन का फल होसकता है। जैसे किसी रोगी के पेट में विकार हो तो दवा असर नहीं करती, यदि पेट का विकार पहले दूर कर दिया जाय तो दवा का असर होता है।

"समाज किस प्रकार चल सकता है।"

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानानानुपासते ॥

इस वेद मंत्र में ईश्वर जीवों को इस बात का उपदेश करते हैं कि यदि तुम अपने उद्देश्य को प्राप्त करना चाहते हो तो अपने व्यवहारों को इस प्रकार चलाओ अन्यथा सफलता कठिन है, अर्थात् तुम सब मिल कर एक साथ चलो अर्थात् अपने जीवन का उद्देश्य एक बनाओ क्योंकि दो विरुद्ध स्थानों को जाने वाले कभी भी मिल कर चल ही नहीं सकते, और जहाँ मिलकर चलने की शक्ति नहीं, वहां सफलता किस प्रकार हो सकती है? परन्तु संसार में देखा जाता है कि एक ही उद्देश्य रखने वाले मनुष्य भी अज्ञान के कारण परस्पर झगड़ते हैं। जैसे—जिसको संस्कृत में परमात्मा बताया है उसी को यवन लोग खुदा कहते हैं परन्तु एक ही पदार्थ होने पर भी वह उसे अर्श पर बैठा हुआ मानते हैं और संस्कृत वाले सर्वव्यापक मानते हैं। जो उसे एक ही स्थान पर बैठा हुआ समझते हैं, उन्हें उसके कामों को चलाने के लिए एजेंटों की आवश्यकता होती है क्योंकि एकदेशी वस्तुओं में अपरिमित शक्ति नहीं हो सकती, इसलिए फरिस्तों और पैगम्बरों (दूतों) से काम लेना पड़ता है, परन्तु सर्वव्यापक मानने वालों की किसी प्रकार के सहायक की आवश्यकता नहीं। अब एक ही पदार्थ के मानने वालों का भाषाओं के इस्तलाही (अर्थभेद) अन्तर से विरोध होना सम्भव था। अतः परमात्मा ने बताया कि तुम एक ही भाषा बोलो परन्तु एक ही भाषा के बोलने वालों में भी विद्या की न्यूनता और अधिकता के कारण विरोध हो सकता है। जैसे एक मनुष्य ने, लघु-कौमुदी को पढ़ा है और दूसरे ने महाभाष्य। अब यद्यपि दोनों ने एक ही संस्कृत भाषा के व्याकरण को पढ़ा है परन्तु जहां वैदिक संस्कृत में व्युत्पत्ति का नियम आवेगा दोनों में विरोध हो जायगा क्योंकि जिसने 'लघुकौमुदी' पढ़ी है उसको इस नियम का ज्ञान ही नहीं है, वह इस शब्द को अशुद्ध बतायेगा, परन्तु जिसने महाभाष्य पढ़ा है उसको ज्ञान है अतः वह शुद्ध कहेगा।

परिणाम यह होगा कि एक भाषा होते हुए भी उनमें भी विरोध हो जाते हैं। इसी कारण वेद ने कहा कि तुम सब एक सा ज्ञान उत्पन्न करो, अब प्रश्न यह है कि हम एक उद्देश्य बना कर चलने और एक भाषा बोलने तथा एक ही प्रकार की विद्या प्राप्त करने से काम किस प्रकार करें। इसका उत्तर दिया कि जिस प्रकार देवता लोग एक ही यज्ञ में से अपना-अपना भाग ले लेते हैं। इसी प्रकार तुम काम करते हुए अपने प्रारब्धानुसार जो भाग मिले, उस पर संतोष रखो, क्योंकि परमेश्वर प्रत्येक देह को बनाने के साथ ही उसके जीवन भर का भोग बांटते हैं, जैसा कि लिखा है, देखो ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ४८ मन्त्र १:—

अहम्भुवंवसुन पूर्व्यस्यतिरह धनानिसंजयामि शश्वत:
मांहवन्तेपितरं न जन्तवोऽहंदाशुषेविभजामि भोजनम्

अर्थ—परमात्मा जीवों को उपदेश करते हैं कि मैं सम्पूर्ण जगत् के पहिले विद्यमान और समस्त संसार का पति हूं और जगत् के उपादान कारण प्रकृति और सम्पूर्ण धन को जीतने वाला हूं, मैं ही मनुष्य को धन का देने हारा हूं। जिस प्रकार सब अज्ञानी जीव दु:ख के समय अपने पिता को पुकारते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक जीवों को दु:खों से बचने के निमित्त मुझे पुकारना उचित है, क्योंकि जगत् को पालन करने के लिये सुखी को देने वाले भोगों का बांटने वाला मैं हूं, इसके अतिरिक्त यजुर्वेद अध्याय ४० के इस मन्त्र से भी सिद्ध है कि ईश्वर के दिये हुए धन को मनुष्य भोगते हैं:—

"ईशा वास्य मिद ँ सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्।
तेनत्यक्तेन भुञ्जीथा मागृध: कस्यस्विद्धनम्" ॥

अर्थ—'यह जितना जगत् अर्थात संसार के पदार्थ हैं अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड, यह सब ईश्वर के रहने का स्थान है। संसार में कोई स्थान ऐसा नहीं, जहां कि परमात्मा न हो। सब जीव उसी का दिया हुआ प्रारब्ध रूपी भोगते हैं इसलिए तू किसी का धन लेने की इच्छा मत कर"।

प्रश्न—क्या प्रारब्ध को मान कर कर्म करना ही नहीं चाहिए? यदि ऐसा ही मान लिया जावे तो समस्त संसार पूर्ण आलसी हो जावे।

उत्तर—नहीं, कर्म दूसरों की भलाई के लिए प्रत्येक समय करना उचित है। कभी भी परोपकार के कर्म से रहित नहीं रहना चाहिए। क्योंकि उस के करने में मनुष्य स्वतन्त्र है परन्तु अपना भोग बदलने के लिए कर्म करना निरी मूर्खता है। क्योंकि भोग पिछले कर्मानुसार परमात्मा का दिया हुआ है जिस दुःख का भोगना ईश्वर ने नियत कर दिया है उसका छूट जाना मानों परमात्मा की आज्ञा का टूट जाना है जो कि असम्भव है। परमात्मा के निर्धारित अटल नियम काम कर रहे हैं। जो मनुष्य परोपकारार्थ काम करता है वास्तव में वही मनुष्य अपने जीवन को यथोचित व्यतीत करता है और जो अपने स्वार्थ साधन के लिए काम करता है वह अपने जीवन को नष्ट करता है। जहां परमात्मा ने इस नियम का वेदों में वर्णन किया है वहां मनुष्य को अपने शरीर में दिखा दिया कि दूसरों की भलाई के कारण अपने जीवन का साधन तथा अपने लिये काम करना मृत्यु है। जिस प्रकार संसार में समाज के अंग मनुष्य हैं इसी प्रकार शरीर के अंग अर्थात भाग इन्द्रियां हैं। जिस समय प्रत्येक इन्द्रिय दूसरी के लिए काम करती है तब शरीर जीवित रहता है परन्तु जब वह अपने लिए काम करती है तब शरीर मृतक हो जाता है और देह के मृतक होने के कारण वह इन्द्रिय भी मृतक होती है। उदाहरणार्थ देह में चक्षु जो देखने की इन्द्रिय है वह हाथ और पांव को पदार्थ तथा मार्ग दिखाती है और देखने से स्वयं कुछ भी लाभ नहीं उठाती। इसी प्रकार हाथ में जो उठाने की शक्ति है वह केवल दूसरों के हितार्थ है अर्थात हाथ जो कुछ उठाता है उसे या तो मुख में डाल देता है या शरीर पर मल देता है या किसी दूसरे को दे देता है अपने पास कुछ नहीं रखता। इसी प्रकार जो वस्तु मुख में डाली जाती है वह मुख भी उसे पेट को सौंप देता है आप कुछ भी नहीं रखता। यही दशा पेट की है उस में जो कुछ डाला जाता है वह उसका रस बना कर सम्पूर्ण शरीर को बांट देता है, स्वार्थ नहीं करता। इस प्रकार जब तक ये शरीर के भाग अपना काम दूसरे के लिए करते हैं शरीर जीवित

रहता है परन्तु जहां इन में कोई इन्द्रिय स्वार्थी हो जाय, बस, वह नाश का कारण होती है। जैसे यदि चक्षु यह विचार लें कि हम अपनी शक्ति का दूसरों के लिए व्यय न करेंगे तो पांव को मार्ग और हाथ को वह वस्तु न दीखेगी जिसका परिणाम यह होगा कि हाथ उस वस्तु को न उठा सकेंगे; जब हाथ उठायेंगे नहीं तो वह पदार्थ मुख में भी न जायगा और जब मुख में न जायगा तो पेट में किस प्रकार रस बनेगा और जब रस ही न बनेगा तो सम्पूर्ण इन्द्रियां आहार न पहुंचने के कारण निर्बल हो जावेंगी जिसका परिणाम मृत्यु होगा तो कहना यह है कि एक आंख के स्वार्थ से सब शरीर का नाश हो जायेगा।

इसी प्रकार यदि हाथ यह विचार करले कि मैंने जिस वस्तु को उठाया है उसे अपने पास रखूंगा, किसी दूसरे को न दूंगा तो परिणाम क्या होगा? वही मृत्यु, क्योंकि हाथ मुख में वस्तु न डालेगा तो वह पेट में कहां से देगा और जब पेट में आहार न जायगा तो रस किस प्रकार बनेगा, और जब रस ही न बना तो किस प्रकार इन्द्रियों को आहार मिलेगा। हाथ स्वयं भी रस न मिलने के कारण अपनी शक्ति का नाश करेगा, इसी प्रकार आप मुख और पेट के स्वार्थ पर भी विचार कर लीजिए, परमात्मा ने शरीर को समाज का चित्र बनाकर स्पष्ट रूप से दिखा दिया है कि जिस समाज में एक सभ्य भी स्वार्थी हो जायगा वह समाज अवश्य नष्ट हो जायगी और साथ ही साथ वह सभ्य भी। कतिपय मनुष्य परोपकार का अर्थ अपनी जाति का ही करते हैं, परन्तु यह विचार भी नाश का हेतु होता है, क्यों कि अपना और पराया यह दो विरुद्ध हैं। अतः जो अपना है वह पराया कैसे हो सकता है, इस कारण जब निज जाति पराई नहीं तो उसका उपकार परोपकार किस प्रकार कहा सकता है, इसी लिए परमात्मा ने शरीर रूपी चित्र में दिखा दिया है कि अपनी जाति के उपकार से उन्नति होना अति कठिन ही नहीं वरन् नितान्त असम्भव है। उदाहरणार्थ इस शरीर में दो प्रकार की इन्द्रियां हैं, एक ज्ञानेन्द्रिय दूसरी कर्मेन्द्रिय है, यह मानों दो जाति विद्यमान हैं, आँख,

कान, नाक, रसना और त्वचा यह पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा हाथ, पाँव, जिह्वा, गुदा एवं उपस्थ यह पाँच कर्मेन्द्रियां हैं, यदि ज्ञानेन्द्रियाँ यह विचार लें कि अपनी जाति का ही उपकार करना हमारा कर्त्तव्य है तो वह ज्ञानेन्द्रियों की ही सहायता करेंगी जिसका परिणाम समय को नष्ट करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि यदि आँख नाक की सहायता करना चाहे तो उससे नाक को क्या लाभ हो सकता है, क्योंकि आँख में जो देखने की शक्ति है उस से नाक कोई भी लाभ नहीं उठा सकती, हां, यदि वह हाथ पांव की सहायता करे तब तो उससे भी लाभ हो और साथ के साथ सम्पूर्ण शरीर को भी, क्योंकि ज्ञानेन्द्रिय जिससे लाभ उठा सकती है वह शक्ति कर्मेन्द्रिय में तो है परन्तु ज्ञानेन्द्रिय में नहीं, यही कारण है कि आज कल योरोपीय जातियाँ जो अपनी जाति के हित का ही ध्यान रखती हैं इस समय ऐसी भयानक स्थिति में हैं कि दिन-रात तोप, बन्दूक डायनामेंट के गोले तथा विना धुआँ की बारूद बनाने पर भी उनके हृदय से युद्ध का भय दूर ही नहीं होता और वह अपनी वर्तमान उन्नति को जिसे कि भारतवासी बहुत उत्तम समझ रहे हैं अपने लिए पर्याप्त नहीं समझते। इस बात को प्रत्येक मनुष्य जानता है कि तोप, बन्दूक और डायनामेट के गोले मानवी आवश्यकता नहीं है वरन मानवी जातियों को भय का रोग लग रहा है और उससे बचने का उपाय इसे लोग समझे हुए हैं, परन्तु यह भी भ्रम है, क्यों कि ऐसी [वस्तुयें जितनी एक जाति बनाती है दूसरी भी उससे बचने के लिए उससे भी विशेष इसी प्रकार के पदार्थ बना लेती हैं, और तीसरी उससे भी अधिक सारांश यह कि इसी प्रकार की खेंचातानी अन्त समय तक होती रहेगी, परन्तु इसकी चिकित्सा यूरोप वालों की शक्ति से परे है, क्योंकि उन्हें सर्वदा अपनी जाति को दूसरी जाति बढ़ाने का विचार रहता है, जिसके कारण ईर्षा, द्वेष उत्पन्न करके लड़ाकर मारने के अतिरिक्त और कोई फल नहीं निकल सकता, इस लिए यावत् समस्त संसार को एक ही दृष्टि से न देखा जावे और प्रत्येक की उन्नति में अपनी उन्नति न समझी

जावे और प्रत्येक मनुष्य यह न समझ ले कि मेरा अस्तित्व मेरे लिये नहीं वरन् दूसरों के उपकार के हेतु है तावत् मनुष्य समाज शान्ति से नहीं चल सकता, और न मनुष्य असफलता के कष्ट से बच सकता, जो लोग दूसरों के बिना किसी स्वार्थ के काम करते हैं उन्हें असफलता हो ही कैसे सकती है, क्योंकि यदि कोई इच्छा होती है तो उसमें पूर्ण न होने से असफलता कहाती है। परन्तु जब कि कोई कामना ही नहीं तो असफलता कैसी ? इसी लिये महात्मा भर्तृहरि ने कहा था:—

एके सत्पुरुषाः परार्थ घटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्था विरोधेन ये॥
तेऽमी मानुष राक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्तये।
ये निघ्नन्त निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥ ७८॥

अर्थ—मनुष्य चार प्रकार के हैं—एक तो सत्पुरुष अर्थात् देवता हैं जो अपने जीवन को सफल करते हैं अर्थात् जीवन से पूर्ण लाभ उठाते हैं। वह कौन हैं जो अपने जीवन में स्वार्थ छोड़कर परोपकार में लगते हैं। क्योंकि दाना खेत में डालकर नाश किया जावे उस समय तक उससे बाल उत्पन्न नहीं हो सकती ? मानों जो बीज गलता है वही फलता है जो गलता नहीं सो फलता भी नहीं ! परन्तु जब पृथ्वी के नीचे जाकर बीज गलता है तभी फलता है। पृथ्वी के ऊपर गलने से भी नहीं फलता, इसी प्रकार यदि कोई परोपकार करके भी प्रकट करता फिरे अथवा सम्मान और कीर्ति की कामना रखे तो लाभ नहीं हो सकता ? उस सम्पूर्ण बलिदान का फल उस कीर्ति में ही समाप्त हो जाता है। दूसरे वह मनुष्य हैं जो अपनी हानि न करके दूसरो को लाभ पहुंचाना चाहते हैं वह साधारण मनुष्य, परन्तु जो अपने हित के लिए दूसरों को हानि पहुंचाते हैं वह राक्षस कहाते हैं। आर्य्यगण ; क्या आप ऐसे मनुष्य नहीं हैं जो अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए दूसरों को हानि पहुंचा रहे हैं ? चौथे वह हैं कि विना किसी लाभ के भी दूसरों को हानि पहुंचाना ही चाहते हैं। वेद तो यह बताता है कि सबका भला करने

से ही अपना भला होगा। प्राकृतिक नियम कहता है कि गलने से ही फल सकते हैं, परन्तु हम हैं कि वैदिक धर्म में उन्नति करना चाहते हैं पर सब को अपने समान समझने के लिये प्रस्तुत नहीं ; मिथ्या जाति-अभिमान दिन-रात हमारे मतिष्क को चक्कर देता है। काम पडने पर कलवारों तक की नहीं, चमारों तक की खातिर (सत्कार) करें। यदि कोई मनुष्य जिसे हम अपनी मूर्खता वश नीच कहते हैं तहसीलदार अथवा डिप्टी कलैक्टर होकर आ जाय और हम कान्यकुब्ज ब्राह्मण होने का अभिमान रखते हुए अपनी थोड़ी विद्या अथवा गुण कर्म के कारण उसके नीचे हों तो क्या हम सलाम (प्रणाम) नहीं करते ? अवश्य करते हैं। उसको आफीसर नहीं जानते ? अवश्य जानते। क्या उसकी आज्ञा पालन नहीं करते ? अवश्य करते हैं ! हाँ ! फिर वैदिक धर्म ने ही कोई अपराध किया है कि आप गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण मानने के लिए अपने जाति-अभिमान को त्यागने के लिए तैयार नहीं। आप लोगों की इस निर्बलता और स्वार्थ ने ही वैदिक-धर्म को इस अवनति की दशा में पहुंचा दिया है कि राधा स्वामी और थ्योसोफिकल सोसायटी आदिक जो वैदिक धर्म के सामने कुछ नहीं इसको पलटा देते हुए चले जा रहे हैं। यदि आपका यह विचार हो कि वैदिक-धर्म को हानि पहुंचा कर आप स्वयं कोई लाभ उठा सकें तो यह आपका भोलापन है। जिस प्रकार एक इन्द्रिय स्वार्थ के कारण देह को हानि पहुंचा कर आप भी नष्ट हो जाती है इसी प्रकार आप भी जाति-अभिमान को लिए हुए वैदिक धर्म को हानि पहुंचा कर स्वयं भी गिर जायेंगे। यदि आप वैदिक धर्म की रक्षा के लिए जाति-अभिमान को भी नहीं छोड़ सकते तो धर्म के लिए तन, मन, धन किस प्रकार दे सकोगे। प्यारे ब्राह्मण, क्षत्रिय कहलाने वाले भाइयो ! क्या तुम्हारा इस प्रकार वैदिक धर्म को हानि पहुंचाना तुम्हारे लिए हितकर होगा ? क्या तुम ऋषियों की संतान होने का दावा (प्रतिज्ञा) करते हुए इस स्वार्थ को न छोड़ कर ऋषियों के नाम को कलंकित नहीं कर रहे हो ? क्या जाति-अभिमान आपको अमर कर देगा ? क्या मृत्यु समय इस मिथ्या जाति-

अभिमान से कोई काम निकलेगा ? क्या कोई स्वार्थ को न छोड़ कर भी परोपकारी ऋषियों की सन्तान होने का दावा (प्रतिज्ञा) कर सकता है ? प्रथम तो आप इस अधर्म प्रणाली को समाजों में चला ही नहीं सकते । जब आप की चाल लोगों पर प्रकट हो जायगी तो वे ब्राह्मण जाति से घृणा करने लगेंगे । जिस प्रकार कि लोग पण्डित भीमसेन जी के गुरुद्रोही और स्वार्थी होने से लोग विज्ञ हो गए और आज कोई भी उनका विश्वास नहीं करता, यही दशा आपकी होगी । सुतराम् जाति-अभिमान और स्वार्थ को त्याग कर संसार का उपकार करते हुए आदर्श बन कर दूसरों को परोपकारी बनाओ, जिससे कि समाज की जय हो ।

"मिथ्या अभिमान और धर्म्म का नाश"

प्रिय पाठकगण ! आजकल धर्म्म विषय में ऐसा मिथ्या ज्ञान हो रहा है कि कतिपय मूर्खों ने तो इस एक पदार्थ को अनेक कल्पनायें कर ली है । और कुछ मूर्खों ने इस नित्य पदार्थ को क्षणिकवाद की भाँति कल्पित मान लिया है और कतिपय मूर्खों ने तो धर्म को इतना समझ लिया है कि वे स्वार्थ को धर्म से अच्छा समझने लग गये हैं । जिधर देखो 'टका धर्म्म' की ध्वनि आ रही है । जो ब्राह्मण कि धर्म्म के सामने ब्रह्माण्ड के सुखों को काक-विष्टा से अधिक न समझते थे वही ब्राह्मण आज टके २ पर अपना धर्म बेच रहे हैं, उन्हें मृत्यु का भय तथा वेद आज्ञा का ध्यान तनिक भी नहीं है । दूसरी ओर जो कि धर्म के लिये प्राण तक दे दिया करते थे, आजकल बोटी और हड्डो के लिए आत्मा का हनन कर रहे हैं ।

प्रिय पाठकगण ! यदि साधरण हिन्दू क्षत्रियों में यह बात पाई जाती तो कोई अचम्भा न था परन्तु वह लोग जो अपने को सुधारक कहते हैं, आर्य होने का दावा रखते हैं, ब्राह्मणादि वर्णों को गुण कर्मों से मानते हैं और जहां गुण कर्मों का मिलान ठीक न हो वहां पोपादिक शब्दों का प्रयोग करते हैं परन्तु संसार की स्वार्थता एक अनोखी वस्तु है और वह भारत में बहुत दिनों से फैल रही है, इनमें से भी कतिपय उद्दण्ड मनुष्य तो ऐसे आपे से बाहर और मिथ्या अभिमान में लिपटे हुए हैं कि उनको

तनिक भी नहीं सूझता कि हम क्या बक रहे हैं। ऐसे ही मनुष्य थे जिन्होंने स्वार्थ के लिए विश्वासघात करके क्षत्रीकुल को कलङ्कित किया; ऐसे ही मनुष्य थे जिन्होंने कि धन और राज्यके लोभ से अपनी बेटियां मुसलमान बादशाहों को दीं। ऐसे ही मनुष्य हैं जो अब भी अपने स्वार्थ में पड़ कर मांस खाना और जीवों को हानि पहुंचाना क्षत्री धर्म्म समझ रहे हैं और जिनकी यह सन्तान हैं वह ऐसे परोपकारी थे कि संसार के जीवों की रक्षा करना क्षत्री धर्म का सर्वोच्च सिद्धान्त मानते थे। हां, उन जीवों को जो हिंसक और दूसरों को बिना कारण हानि पहुँचाते हैं दूसरों के रक्षणार्थ हिंसक जीवों को मारा करते थे क्या वह अहिंसक जीवों को भी मारते थे? नहीं, नहीं, वरन् वह तो हिंसक और अधार्मिक मनुष्यों को भी दण्ड देते तथा मार डालते थे। उनका यह कर्म किसी स्वार्थ से नहीं होता था वरन् उदारता की दृष्टि से। परन्तु अब उनकी सन्तान अपने अज्ञान के कारण अपने स्वार्थ और दुराचारों को उन क्षत्रियों के शिर मढ़ने लग गई है। अब हम उन आर्यक्षत्रियों से प्रश्न करते हैं कि प्रथम यह तो बताओ कि कौन से वेद शास्त्र में लिखा है कि मांस खाना क्षत्रियों का धर्म है? कतिपय मूर्ख तो इस आखेट के विषय से ही सिद्ध करना चाहते हैं कि पहले भी क्षत्री मांस खाते थे, परन्तु जब दुष्ट मनुष्यों को मार डालने की राजा के लिये आज्ञा है तो क्या वह मनुष्यों को भी खाने के लिये ही मारा करते थे। यदि कहो कि मनुष्यों को भी इसी उद्देश्य से मारते थे तो वह भी स्वयं अपने को मनुष्याहारियों की सन्तान बताते हैं और यदि यह कहो कि वह मनुष्यों का मांस नहीं खाते थे तो जिस उद्देश्य से वह मनुष्यों को मारते थे उसी उद्देश्य से पशुओं को मारते होंगे। अब तुम्हारा आखेट से मांसाहार सिद्ध करना तुम्हारी मूर्खता है।

प्रिय पाठकगण! आजकल बहुधा मूर्ख पौर अज्ञानी जो भूल कर क्षत्रियाभिमानी हैं झट से कह डालते हैं कि ब्राह्मणों ने भारत का सत्यानाश कर दिया, यदि ऐसा कहने वाले अनार्य होते तो हमें तनिक भी खेद न होता क्योंकि यह लोग जन्म से वर्ण को मानते हैं परन्तु यह मूर्ख तो अपने आपको

आर्य कह कर अपनी मूर्खता से इस श्रेष्ठ नाम को कलंकित करते हैं. जबकि आर्य गुण कर्म से वर्ण मानते हैं और जहां ब्राह्मण के लक्षण लिखे हैं उनमें ब्राह्मण को संसार भर का हित करने वाला बताया है जैसा कि आह्निक सूत्र आदि में लिखा है :—

"शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरु पूजनम् ।
प्रियातिथित्वमिज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम्" ॥

अर्थ—'जिसमें स्वाभाविक रीति से शौच, अस्तिकता, वेदों की, गुरु की पूजा, संसार भर का हित करना, अतिथि सत्कार और नित्य अग्निहोत्र की बान पाई जाय वह ब्राह्मण का शरीर कहाता है।'

"शान्ताः सन्ताः सुशीलाश्च सर्वभूत हितेरताः ।
क्रोधं कर्तुं न जानन्ति एतद् ब्राह्मण लक्षणम् ॥'

अर्थः—जो शान्ति रखता हो, जिसके आचार-व्यवहार सब शुद्ध हों, सब से मित्र भाव से मिलने वाला, सबका हित अर्थात उपकार करने वाला, और जो क्रोध करना न जानता हो वह ब्राह्मण है।

'संध्योपासन शीलश्च सौम्यचित्तो दृढ़व्रतः ।
समःस्वेषु परेषु च एतद् ब्राह्मण लक्षणम् ॥'

अर्थः—संध्या करने का अभ्यासी, दयालु, दृढ़ व्रत वाला और अपने पराये को एक समान समझने वाला ब्राह्मण कहाता है।

प्रिय पाठकगण ! इसी प्रकार के और बहुत से श्लोक हैं जिन से ब्राह्मणों के गुण, कर्म और स्वभाव प्रकट होते हैं, इस प्रकार के गुणों से रहित मिथ्या ब्राह्मण अभिमानियों के चरित्रों को पवित्र ब्राह्मणों के शिर मढ़ना क्षत्रिय पदाभिमानी लोगों की मूर्खता और अनार्यपन का लक्षण है, हमारे विचार में तो इस समय ब्राह्मण-क्षत्रिय यह दोनों पद नाममात्र रह गये हैं और इस प्रकार के मनुष्य बहुत ही थोड़े दिखाई देते हैं। यद्यपि गुण कर्म से जाति मानने वालों का ऐसा कथन सर्वथा झूठा है परन्तु यदि कोई जिज्ञासु पूर्णतया खोज करे तो यह दोष क्षत्रिय नामधारियों पर ब्राह्मण नामधारियों की अपेक्षा अधिक

दीखता है. जिस प्रकार वेद की रक्षा ब्राह्मण का कर्त्तव्य है अर्थात् वह उसका पठन पाठन तथा सुनना-सुनाना बनाये रक्खे, इसी प्रकार क्षत्रिय का कर्त्तव्य देश तथा प्राणी मात्र की रक्षा है, आप ध्यान पूर्वक विचारिये कि ब्राह्मणों ने कैसे २ कष्टों से वेदों की रक्षा की। जबकि जैन और बौद्धों की प्रबलता तथा मुसलमान सम्राटों के अत्याचार से वेद पुस्तक जलने लगी और किसी भी क्षत्रिय राजा की यह शक्ति न रही कि उन अत्याचारियों का सामना करे, बरन क्षत्रियों की तो यह दशा हो गई कि उन्होंने राज्य के लोभ एवं प्राणों के भय से यहाँ तक धर्म और क्षत्री कुल के मान को नाश कर दिया कि अपनी कन्याएं यवन बादशाहों को देकर अपने क्षत्री नाम को कलंकित कर लिया, उस समय भी दीन ब्राह्मणों ने वेदों को कण्ठ कर लिया, उस समय भी दीन ब्राह्मणों ने वेदों को कण्ठ कर लिया और उनके स्वरों के रक्षार्थ हाथ के संकेत नियत करके यथा-सम्भव वेदों को वर्त्तमान सन्तान तक पहुंचा दिया जिसका बीज रहने से अब प्रेसों की कृपा से एक के करोड़ों होने की आशा की जाती है।

प्रिय पाठकगण ! यद्यपि भारतवर्ष के धर्म के नाश होने में ब्राह्मणों का अपराध अधिक दिखाई देता है, परन्तु भारत की और वस्तुओं का नाश तो केवल क्षत्रियों के स्वार्थ से हुआ है, यदि आप खोज करेंगे कि भारत पर यवनों के राज्य का कारण कौन हुआ तो आपको स्पष्ट विदित हो जायेगा कि पृथ्वीराज के मंत्री के पुत्र विजयसिंह के विश्वासघात से बढ़ कर अन्य कारण इसका प्रकट नहीं होता, यद्यपि बहुत से मनुष्य जयचन्द्र को भी इस अपराध का दोषी ठहराते हैं परन्तु वह भी तो स्वार्थी क्षत्री ही था। दूसरे यदि आप पता लगावें कि राना साँगा और बाबर के युद्ध में चित्तौड़ के महाराना सांगा की किस प्रकार पराजय हुआ और किस प्रकार हिन्दू राज्य का प्रताप बढ़ते २ एकाएकी नष्ट हो गया तो इसका कारण भी सलहदी के राव का विश्वासघात ही इतिहासों से प्रकट होता है। यदि आप राजस्थान में इस्लाम के फैलने का वर्णन पढ़ें तो भी आपको विदित हो जायेगा कि

क्षत्रिय राजा लोग अपने स्वार्थवश हानि पहुंचाते रहे जो कि महाराणा प्रताप के प्रति राजा मानसिंह के व्यवहार से प्रकट है। इसी प्रकार जब सिक्ख धर्म उन्नति पर पहुंचा और महाराजा रणजीत सिंह के मरने के पीछे अंग्रेजों और सिक्खों से युद्ध हुआ उस समय भी स्वार्थी मनुष्यों के स्वार्थ और विश्वासघात से खालसा कौम (सिक्ख) जैसी महान और वीर जाति नाश को प्राप्त हो गई जो कि बंगवासी प्रेस के छपे हुए सिक्खवाद में लालसिंह, राजा गुलाबसिंह ध्यानसिंह तेजसिंह तथा रणजोर सिंह की करतूतों से प्रकट होता है। इन्हीं महात्माओं के स्वार्थ ने सिक्ख जाति का प्रताप नक्षत्र आकाश से उतार कर पाताल में डाल दिया।

प्रिय पाठकगण! उपरोक्त बातों के पढ़ने से आप समझ गए होंगे कि स्वार्थी मनुष्यों के विश्वासघात ने भारतवर्ष का सत्यानाश कर दिया, इसकी विद्या, इसका धन, इसकी कारीगरी सब नष्ट हो गये और अब सर्वनाश करके एक दूसरे पर दोष लगाते और झगड़ा करते हैं, परन्तु समझने वाले समझते हैं, कि यह सब व्यर्थ की बातें हैं, न तो ब्राह्मणों ने ही भारतवर्ष और धर्म की हानि की और न क्षत्रियों ने विश्वासघात किया, क्योंकि जब गुण से वर्ण माने जाते हैं, तो न मूर्ख और स्वार्थी लोगों में ब्राह्मणों के गुण घटा सकते हैं, और न स्वार्थ वश कन्याओं को लोभ से म्लेच्छों के हाथ सोंप देना अथवा विश्वास-घात करके देश को हानि पहुंचाना क्षत्रियों के गुण कर्म में आ सकता है, और न अपने लालच वश दूसरों को हानि पहुंचाने वाले वैश्य, वैश्य कहा सकते हैं।

प्रिय पाठकगण! आजकल सबसे बढ़िया एक और राम कहानी छिड़ गई है, जिसने कि बचे बचाये भारत के मान को भग करने का बीड़ा उठाया है, अर्थात् इधर तो मूर्ख ब्राह्मण सब उत्तम गुणों को त्याग कर केवल दान लेने अथवा भिक्षा मांगने का अपना धर्म बता रहे हैं, उधर मूर्ख क्षत्रियों ने सब उत्तम बातों को छोड़कर मांस खाना और छोटे २ पक्षियों का मारना ही क्षात्र धर्म्म समझ लिया, एक ओर आर्यसमाज के सभ्यों ने अपना नाम रजिस्टर में लिखना ही आर्य धर्म का पूर्ण मैराज (उन्नत पराकाष्ठा) समझ

लिया, और कतिपय मनुष्यों ने जाति जाति की पुकार को समस्त धर्म कर्म से बढ़कर मनुष्य जीवन का उद्देश्य समझ लिया. सारांश यह कि सब मनुष्य शिक्षित और मूर्ख मिथ्या अभिमान में फंस कर भारतवर्ष को नाश करने लगे और पाप-पुण्य के सत्य विवेक को एक ओर रख दिया।

प्रिय पाठकगण ! जबकि दोनों का विभाग गुण कर्म से है तो हम नहीं जानते कि किस प्रकार निरक्षर ब्राह्मण अथवा दूकानदार अपने को ब्राह्मण समझ रहे हैं। कायर और स्वार्थी क्षत्रिय जो कि दासत्व पर कमर कसे हुए हैं और क्षात्र धर्म से लाखों कोस दूर जा पड़े हैं, वेश्यागामी और मांसाहारी होने पर भी न जाने किस प्रकार क्षत्री कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं। वैश्य जिनका कि धर्म सर्वदा सद्व्यवहार से धन कमाना था, जो पशु-पालन और दूसरों को सुख पहुंचाने का बड़ा साधन गिने जाते थे; आज वे झूठ की दुकान खोलकर, धर्म से निरन्तर पृथक् होकर तथा संस्कारों से पूर्ण रहित होकर अपने को वैश्य मानते हैं। न जाने उनके पास क्या प्रमाण है, इस समय यदि प्रत्येक वर्ण की अवस्था पर विचार किया जावे तो लगभग सब ही अपने कर्मों से रहित हैं, और कतिपय नवीन वर्ण कायस्थ आदि अत्यन्त कायर और निबल होते हुए भी अपने को क्षत्रिय मानने लग गये हैं।

इसी प्रकार के जाति मिथ्याभिमान ने मनुष्यों को उत्तम कर्मों से पतित कर दिया है, क्योंकि वह अपने बड़प्पन के लिए केवल जाति को उपस्थित करते हैं, और गुणकर्मों का कोई ध्यान नहीं। जबकि ब्राह्मण केवल ब्राह्मण के घर जन्म लेने से, क्षत्रिय क्षत्रिय के वीर्य से उत्पन्न होने तथा कायस्थ चित्र-गुप्त की सन्तान होने से अपने को बड़ा मान रहे हैं। उनका गुण-कर्म से कैसे प्रेम हो सकता था ? शोक तो यह है कि इन्होंने अपनी झूठी प्रशसा सिद्ध करने के लिए उन मिथ्या ग्रंथों को जिनको यह कभी भी किसी अन्य दशा में न मानते; अब अपने हित के लिये, यद्यपि वे समूल बुद्धि विरुद्ध और सत्य से कोसों दूर हैं, सत्य मान लिया। यदि हमारे शिक्षित कायस्थों से कोई कहता है कि परमात्मा के न्यायाधीश के यहाँ कोई महामन्त्री है तो यह भी तुरन्त हो बोल उठते हैं कि सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान परमात्मा को

अपने न्याय के लिये किसी अफसर की आवश्यकता नहीं, क्योंकि जहां स्वयं परमात्मा न हों वहाँ एजेन्ट रह सकते हैं। जिस प्रभु को सर्वज्ञ और सर्वान्तर-यामी कहा जाता है उसके यहाँ भूल का होना नितान्त असम्भव है, परन्तु अब अपने कुल को सिद्ध करने के लिए इन असत्य बातों को भी वे सत्य मानते हैं।

प्रिय पाठकगण ! इस प्रकार चारों वर्ण इस मिथ्या अभिमान के कारण आपस में एक दूसरे को बुरा कह रहे हैं। ब्राह्मण क्षत्रियों को बुरा बताते हैं, और क्षत्रिय ब्राह्मणों पर दोषारोपण करते हैं, कायस्थ वैश्यों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं और वैश्य उनको उत्तम नहीं बताते। सबसे अधिक खेद की बात तो यह है कि आर्यसमाज जैसे वैदिक धर्म के सदस्य, जो कि गुणकर्मों से वर्णों को मानते हैं, उनको इस रोग से, आरोग्यता प्राप्त नहीं हुई, वे भी जाति सभाओं में, जो कि भारतवर्ष में उन्नति की सबसे अधिक हानिकारक संस्था है। इस मिथ्याभिमान का बड़ा भारी कारण ये सभायें हैं, मुख्य भाग ले रहे हैं, और अपनी जाति को बिना गुण-कर्म की महत्ता के औरों से उत्तम बता रहे हैं। विशेष शोक तो इस पर है कि इस प्रकार के मूर्ख लोग जब बैठते हैं; उस समय वर्णों को गुण-कर्म से बनाने पर जोर देते हैं, परन्तु जब बाहर जाते हैं तो उसके विरुद्ध जाति सभाओं में इसका खंडन करते हैं।

प्रिय पाठकगण ! कहां तक लिखें भारत के दुर्भाग्य ने इस मिथ्याभिमान को भारतवासियों के हृदय पर इस प्रकार अंकित कर दिया है कि जिसका दूर होना भी अति कठिन है और जब तक यह शुद्ध न हो जावे तब तक भारतवासियों के गुण-कर्म शुद्ध ही नहीं हो सकते। जब तक गुण-कर्म न सुधर जायें तब तक भारत में जीवन ही नहीं आ सकता। बिना जीवन उन्नति दुर्लभ है। सुतराम् आर्य्यसमाजों और धार्मिक पुरुषों को उचित है कि इस मिथ्याभिमान को नष्ट करने का प्रयत्न करें; जिससे यह देश फिर पहली अवस्था पर आ जावे और संसार में शान्ति फैला सके।

प्रिय पाठकगण ! यद्यपि हम लाखों प्रकार का प्रयत्न करते हैं कि भारत में धर्म का प्रचार हो परन्तु जब तक इस देश से मिथ्याभिमान का नाश नहीं

होता तब तक भारत की अवनति दिन-दिन बढ़ती ही जायगी। यह नहीं कि मनुष्य केवल जाति के सम्बन्धमें ही मिथ्या अभिमान को बर्तते हों वरन् और दशाओं में भी। जैसे अंग्रेजी पढ़े हुये अपने आप को देशहितैषी तथा कुपढ़ मनुष्यों को मूर्ख और बुरा समझते हैं। यदि विचारपूर्वक देखा जावे तो यह भी उनकी बुद्धि की निर्बलता और मिथ्या अभिमान ही है।

देश का वास्तविक लाभ तो केवल अनपढ़ कृषकों से ही होता है। यह तो केवल कृषकों की कमाई ठग कर खाने वाले हैं। जहाँ तक देखा जाता है भारतवर्ष में मिथ्याभिमान की प्रबलता दीख पड़ती है और यही अभिमान जाति, विद्या और धन आदि भिन्न २ साधनों से काम में लाया जाता है। इसी से यहाँ की उन्नति रुक गई। अत: हमें उचित है कि हर प्रकार के मिथ्या अभिमानों का नाश करके देश को लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करें।

महा अन्धेर रात्रि

प्यारे पाठकगण! एक बार वर्षा ऋतु में जबकि चारों ओर घनघोर घटा छा रही थी और अन्धेरा इस कदर हो रहा था कि अपना हाथ भी दिखाई न देता था उस समय एक स्त्री और पुरुष अपने घर में बेखबर सो रहे थे। चोरों ने उनके घर में सेंध लगाकर बहुत रोशनी कर ली थी और बेतहाशा उसका माल ले जा रहे थे, उन्हें अपनी और अपने माल की कुछ सुध न थी और न यह मालूम था कि हमारे घर में चोर घुस आये हैं। सोने के समय वे अपने घर को मजबूत समझकर निडर सोये थे। उस समय उन्हें कभी भी यकीन नहीं था कि ऐसे मजबूत घर में किस तरह से चोर आ सकते हैं लेकिन वर्षा ऋतु के जोर, जमाने के भाव ने उस मकान को ऐसा मजबूत नहीं रहने दिया था जैसा समझ कर सोये थे। चोरों ने मुख्तलिफ रास्त उस घर से माल निकालने के लिए पैदा कर लिये थे। जिनका हाल घर वालों से बिल्कुल छिपा हुआ था।

इस तरह से जब एक चौथाई के करीब माल निकल गया और यकीन था कि शेष भी निकल जाता कि उस वर्षा में एक बिजली का गोला छूटा जिसने सोते हुओं को गहरी नींद से जगा दिया और विजली कडक। पहले पुरुष जागा और घर में चारों ओर छेद हो रहे हैं उसने उनको अच्छी तरह देखने के वास्ते कि किस कदर माल गया है. साधारण प्रकाश की तलाश शुरू की. कुछ तो अंधेरे के सबब से और दूसरे इस सबब से कि चोर साधारण-प्रकाश को पहले ही ले गये क्योंकि वह उन स्त्री-पुरुष के बल और पराक्रम का इतिहास सुन चुके थे; उन्हें ख्याल था कि जब ये सोये हुए हैं तब तक हम इनका सब कुछ ले जा सकते हैं। लेकिन इनके जागने पर माल लेजाना बल्कि जान बचाना भी मुश्किल होगा और रोशनी के न होने से अगर ये जाग भी जावें तो हमारा कुछ भी न कर सकेंगे। अव्वल तो अन्धेरी रात में इसको हमारा स्वरूप ही नजर न आवेगा और दूसरे इसको अपने खोये हुए माल का बिल्कुल हाल न मालूम होगा। जिसके लिये वे हमारा पीछा करने के लिए तैयार होगा।

उनका यह इरादा था कि वह उसका माल ले जाने के बाद उनको जान से भी मार डालें लेकिन अभी तक उसका इन्तिजाम नहीं होने पाया था कि अचानक विजली की रोशनी उसको जरा २ सी मदद दे रही थी जिसके जरिये से उसने यह मालूम कर लिया था कि मेरे घर में चोरों ने बहुत से छेद कर लिये हैं और बहुत सा माल भी ले गए हैं। उसने चाहा कि उन सूराखों को बन्द करके चोरों के पीछे अपना माल छीनने के लिए जावे और जिस कदर हो सके अपना माल वापिस ले। उसका ख्याल था कि जब तक सूराख बन्द नहीं होंगे तब तक चोरों के हाथ से माल बचाना बहुत ही मुश्किल होगा, इतने में उसकी स्त्री भी उठ खड़ी हुई और उसने पुरुष से पूछा कि तुम क्या करना चाहते हो उसने कहा कि इन सूराखों को बन्द करके इन चोरों को पकड़ने और माल लाने की कोशिश करूंगा। स्त्री ने कहा कि मैं हरगिज ऐसा न करने दूंगी; यह सूराख तो घर का साज व सामान दूसरों को दिखलाते है। क्योंकि हमारे दरवाजे से तो बहुत से लोग हमारे घर के

पदार्थों को देख नहीं सकते और तुम किसी चोर को मत पकड़ो।

यदि तुम्हारा कुछ माल ले गये तो ले जाने दो. वह हमारी किस्मत का नहीं। वह उन्हीं का होगा, हमारे घर में कुछ कमी नहीं। पुरुष ने उसको समझाया कि यदि थोड़ा २ इसी तरह ले जाते रहेंगे तो तुम एक दिन कंगाल हो जाओगी और इन सूराखों को बन्द करना तो भला काम है क्योंकि उनकी राह से शत्रु आकर हमें बहुत हानि पहुंचा सकते हैं।

स्त्री ने कहा सनातन से यह सूराख चले आते हैं। अब इनके बन्द करने की आवश्यकता नहीं और तुम जो कहते हो कि थोड़ा २ माल चोरों के पास बराबर निकल जाने से तुम कंगाल हो जाओगी, मेरे पास इतना माल है कि हजारों वर्षों में खतम न होगा और आगे का हाल कौन जानता है। गरजे कि इसी तरह की बहस और प्रश्नोत्तर होते हुए स्त्री पुरुष के पीछे ऐसी पड़ी कि जिसको बाहर जाना और सूराखों को बन्द करना और अपना माल वापिस लाना बहुत ही मुश्किल हो गया।

जब चोरों ने देखा कि स्त्री उसके पीछे भूतनी होकर चिपट गई है, किसी तरह भी अपना माल हमसे वापिस नहीं ले सकता और न ऐसी दशा में हमसे सामना कर सकता है; उन्होंने दिलेर होकर पुरुष पर हमले करने शुरू किए और सूराखों के रास्ते और भी माल ले जाने लगे। बेचारा पुरुष जिसको अपना बुजुर्गों का माल जाता हुआ देखकर बहुत ही शोक हो रहा था पर क्या करे! इधर दुश्मनों का सामना, इधर स्त्री की जबरदस्ती और कटु वाक्य उस पर रोशनी की कमी, कि गर्ज एक मुसीबत हो तो उसका बंदोबस्त भी हो सके।

उसका हर एक पत्ता दुश्मन हो रहा था लेकिन जिसको अपने बुजुर्गों से मजबूती और बुद्धिमानी से काम करने का सबक मिल चुका था वह बराबर अपना काम करता चला गया। थोड़े अरसे में स्त्री जब उसको रोकते २ थक गई और उसने छोड़कर कहा जा निपूते जा मेरे घर से बाहर निकल तेरा यहां क्या काम ? जा, चोरों के पीछे जा। अपना काम कर, लेकिन ये सूराख जो हैं कभी बन्द न करने दूंगी और न उस असबाब को जो चोरों के हाथ में

गया है जिसके छूने से मुझे पाप मालूम होता है, इस घर में न लाने दूंगी।

मर्द ने कहा यह तुम्हारी बात अच्छी नहीं। क्या तुम्हारा माल जो चोरों के हाथ में चला गया है अब वह किसी तरह भी शुद्ध नहीं हो सकता। हमें उसकी शुद्धि के लिए कोशिश करनी चाहिये। जबकि तुम्हारे धर्म में जो अपवित्र हो गई हो उसके शुद्ध करने का तरीका मौजूद है तो फिर तुम क्यों नहीं उस धर्म को मानते?

प्यारे पाठकगण! आप इस सिद्धान्त को सुन चुके शायद आप में से कई सज्जन इस दृष्टान्त के मतलब को भी समझ गये होंगे। बहुत से भाइयों को इसके असल हाल जानने की इच्छा होगी। इसलिए मजमून की असलियत की व्याख्या की जाती है।

प्यारे मित्रो! जब महाभारत के बाद भारतवर्ष में वेद का सूर्य छिप गया और अज्ञान की घटाओं से महा अन्धकार हो गया और वाममार्ग की आचार-व्यवहार की खराबी ने ऐसा जोर डाला कि भारतवासियों को धर्म-कर्म का जरा भी ज्ञान न रहा। हर आदमी बेसुध आलस्य की नींद में मस्त हो गया भारतवर्ष की ऐसी दशा हो गई कि वैदिक धर्म की जगह बहुत सी बनावटी सम्प्रदायें हो गईं और लोग अपने सम्प्रदायों के बुरे से बुरे कर्मों को भी अच्छा बतलाने लगे, किसी ने शराब कबाब और भोग को धर्म बतला दिया. किसी ने इससे भी बहुत खराब बातों को जायज कर दिया ऐसा होते ही चारों ओर से गैर मजहब वालों के हमले भारतवर्ष पर होने लगे और उन्होंने वैदिक धर्म के मानने वालों को अपने मत में लाना शुरू किया।

वैदिक धर्म में वाममार्ग के साथ मुद्दत तक पड़ौस में रहने से उनकी बहुत सी बातें आ गईं थी जिससे वैदिक धर्म ऐसा मजबूत नहीं रहा था जैसा कि सृष्टि के आरम्भ से लेकर महाभारत के जमाने तक। इसकी कमजोरी और वाममार्ग की बू बास ने यहाँ पर बौद्ध, जैनी, मुसलमान व ईसाई चारों मजहबों को वैदिकधर्म के अनुयायी यानी वेद के मानने वालों को अपने धर्म में लाने का मौका दिया। यहाँ तक कि भारतवर्ष में बौद्ध और जैनमत के फैलने के बाद करोड़ों आदमी मुसलमान हो गये और लाखों हिन्दू ईसाई

धर्म में चले गये।

ऐसी हालत में दुनियां के तमाम मजहवों का यह ख्याल था कि इसी तरह एक दिन वैदिक धर्म का खातमा हो जायगा और कुल वेद के मानने वाले समाप्त हो जावेंगे। लेकिन परमात्मा को यह बात मंजूर नहीं थी कि उसका दिया ज्ञान संसार से अलग हो जावे और लोग हमेशा के लिए ऐसी महा अंधेरी रात्रि में पड़े रहें।

इस वास्ते उसने अपनी कृपा से इस घनघोर रात्रि में एक बिजली का गोला छोड़ा जिसने एक दफा सारे संसार की नींद को दूर कर दिया। बहुत से आदमी थोड़ी देर बाद फिर ख्वाब में चले गये लेकिन एक बार तो सबके लिए हलचल पड़ गई। वह गोला स्वामी दयानन्द के उपदेश का जोरदार शब्द का था जिसने भारतवासियों को नहीं बल्कि कुल संसार को धर्म की तहकीकात की तर्फ रुजू कर दिया।

अमरीका और इंगलैंड के प्रकृति उपासक देशों में जहां पर नास्तिकता का जोर हद्द से बढ़ गया था; हजारों आदमियों को धर्म की तहकीकात का शौक हुआ और लोग ईश्वरी ज्ञान की तहकीकात में लग गये। उस ऋषि के उपदेश से आर्य समाज ने जाग कर इस बात की तलाश कि किस तरह हमारे मुल्क की यह हालत हो गई है। मुसलमानों ने हिन्दुओं के धर्म की कुल किताबें जो उनके हाथ लगी, जला दी थीं और बहुत सी किताबें हिन्दुस्तान की जर्मन और योरुप आदि के देशों में चली गईं। इसलिए आर्य समाज को बड़ों की किताबों की तलाश की बहुत जरूरत मालूम हुई। जिससे वह अपने भाइयों को जो वाममार्ग से पैदा हुई बुरी रीतियों को देख वैदिक धर्म को छोड़ ईसाई और मुसलमान मजहब में जा रहे हैं। किसी तरह उन रीतियों को दूर कर उनको वैदिक धर्म से पतित होने से बचावें और जो लोग वैदिक धर्म से पतित हो चुके हैं उनको वापिस लाने की कोशिश करें ताकि वैदिक धर्म फिर वैसी हालत में आ जावे, जैसी वह महाभारत के पहले था। लेकिन आर्य समाज के बाद ही एक स्त्री धर्म सभा के नाम से उठी जिसने आर्य समाज का दामन पकड़ लिया और कहा खबरदार तुम इन बुराइयों को दूर मत करो। इनसे

हमारे धर्मकी खूबी और बजुर्गी जाहिर होती है। और तुमको क्या पड़ी है कोई धर्म पर रहे या न रहे। और आर्य समाज का जो ख्याल था कि वैदिक धर्म के मानने वाले जो ईसाई, मुसलमान इत्यादि मजहबों में अपनी गलती या किसी विषय के लालच से गये हैं और जो हमारी तरह ऋषियों की औलाद हैं लेकिन अपने वुजुर्गों के सच्चे धर्म को वसवव नादानी के हानि पहुंचा रहे हैं, उनको समझा कर और प्रायश्चित करा कर फिर उनको ऋषि सन्तान बना दिया जावे।

श्रीमान स्वर्गवासी महाराज जम्बू कश्मीर ने काशी इत्यादि के पण्डितों से साबित करा दिया है कि धर्म के न जानने से जो ईसाई या मुसलमान हो जावें उनको प्रायश्चित करके शुद्ध कर लेना बिल्कुल धर्मशास्त्र और वेदों की आज्ञा के अनुसार है। जिनके लिए महाराज ने (रणवीर रत्नाकर) नामी पुस्तक पर बहुत से पण्डितों के हस्ताक्षर भी करा दिये हैं लेकिन भारतवर्ष के कुदिन ने अब भी धर्म सभा के मूर्ख और अपस्वार्थी मनुष्यों को प्रायश्चित का शत्रु बना रखा है जिससे वैदिक धर्म की वह कमी जो मुसलमान बादशाहों की जबरदस्ती से पैदा हो गई थी पूरी होनी कठिन ज्ञात होती है। धर्म सभा में ऐसे लोग भी मौजूद हैं जो मुसलमान डाक्टरों की दवा इस्तैमाल करते हैं जिसमें उनका पानी मिला होता है। मुसलमानों के हाथ का सोडा-वाटर पी लेते हैं, मुसलमान वेश्याओं के साथ खा लेते हैं। इस किस्म के मुसलमानों के साथ खाने वाले तो शुद्ध हैं और जो लोग धर्म रक्षा के लिए मुसलमान और ईसाइयों को जो पहले हिन्दू थे शुद्ध करके मिला लेते हैं वह अशुद्ध हैं। सच है घोर कलियुग का यही धर्म है कि रक्षक अपवित्र और वेश्यागामी और शराबी-कबाबी पवित्र माना जाता है। अगर इतना अज्ञान न छा जाता तो भारत का दुर्भाग्य किस तरह कामयाब होता।

प्यारे पाठकगण! आर्यसमाज जो भारतवर्ष के धर्म और विद्या का बचाने वाला है जिसका उद्देश्य ही सम्पूर्ण संसार को सुख पहुंचाना है और अपने तन-मन से आपकी सेवा में लग रहा है, उसको अपस्वार्थियों ने झूठी गप्पों और धोखे की चालों से ऐसा बदनाम कर दिया है जिससे भारतवासी

अपने परमहितकारक को नफरत की निगाह से देखते हैं। जहाँ पर इस किस्म की महा अन्धेर रात्रि हो, वहाँ उन्नति की आशा करना बहुत ही कठिन है, अफसोस की बात यह है कि आज ऋषियों की सन्तान का धर्म रोटियों पर ग्कि रहा है। सब लोग ऐसे मूर्ख हैं कि वह धर्म के शब्द की असलियत से भी जानकार नहीं और लोग जानते हैं कि उनका रोजगार अभी खराबियों और बुरी बातों पर कायम है अर्थात् इस ख्याल में हैं कि आज हम सचाई की ओर ध्यान देंगे तो लोगों में हमारी विद्या की पोल खुल जायगी; वह कहेंगे कि आज तक पण्डित होकर गलत कायदों के कायल रहे जबकि पढ़े-लिखे और पण्डित तो इस 'आफत में फँसे हैं और अनपढ़ और मूर्खता के कारण मँझधार में डूब रहे हैं। इन लोगों के अपस्वार्थ और बेवकूफी से वैदिक धर्म प्रतिदिन तबाह होता चला जाता है। ये लोग यह नहीं सोचते कि ।नि हिन्दू मुसलमानों के झगड़ों से हां रहो है। ये जो भाई मुसलमान हुए यदि न होते तो कभी मुमकिन न था कि भारतवर्ष की यह दशा होती। आज आधी ताकत जिससे कुछ देश का लाभ होता, आपस के झगड़ों में खर्च हो रही है। जो आर्यसमाज ने इस बात की कोशिश की कि हिन्दुओं को मुसलमान और ईसाई होने से बचाये और जो लोग गलती से हो चुके हैं उनको प्रायश्चित्त कराकर वापिस ले तो यह अपस्वार्थी लोग बेवकूफ लोगों को बहकाकर आर्यसमाज को धर्म रक्षा से हटाये रखने की कोशिश करते हैं।

प्यारे पाठकगण! सनातन धर्म सभा अगर किसी अच्छे काम का प्रचार करती तो आर्यसमाज को बहुत मदद मिलती, लेकिन यह तो बजाय उपकार के झगड़े में डालने का बन्दोबस्त करती है। आर्यसमाज प्रतिदिन बहुत उन्नति करता चला जाता है लेकिन धर्मसमाज के झगड़ों ने आर्यसमाज की स्प्रिट को बिल्कुल बदल दिया है। आर्यसमाज का उद्देश्य यह नहीं था कि वह वैदिक धर्म के मानने वालों में और झगड़े उपस्थित करे। इसका उद्देश्य तो केवल वैदिक धर्म की रक्षा करना था और जो छिद्र जैन, बौद्ध, ईसाई और मुसलमान लोगों की तालीम से वैदिक धर्म में पैदा हो गए हैं; उनको

बिल्कुल अलग करके शुद्ध वैदिक धर्म को जिसके सामने संसार के किसी मत का बल नहीं कि अपने मत को उपस्थित रखकर संसार भर में फैला दे। लेकिन शोक तो यह है कि भारतवर्ष में उत्तम वर्ण और सबसे श्रेष्ठ कक्षा के मनुष्य यानी ब्राह्मण और साधु अब उन्हीं अशुद्धियों के बचाने वाले हो गये हैं जो अन्य मतों के सम्बन्ध से पैदा हो गई हैं।

प्यारे पाठकगण ! क्या कोई सनातन धर्म का पण्डित बतला सकता है कि वेद और वेदानुकूल पुस्तकों में कहीं मुसलमान मुर्दों की कबर की पूजा लिखी है ? आप में से कोई इसका सबूत दे सकता है ? कदापि नहीं ? क्या कोई बतला सकता है कि सनातन ऋषि-मुनि इसी भाँति पर धर्म से अलग रहकर केवल संसार का धन कमाने को ही धर्म-कर्म मानते थे ? जैसा कि आजकल हमारे बहुत से भाई कर रहे हैं, क्या यह रामलीला का खेल कोई सनातन धर्म सिद्ध कर सकता है ? क्या अपने बुजुर्गों को चोर और जार बतला सकता है ? जिस तरह हमारे सनातन धर्मी लोग महात्मा कृष्ण जैसे योगिराज को बतला रहे हैं, क्या कहें एक बात हो तो बतलावें जिधर देखो तिधर काम चौपट हो रहा है। केवल इसीलिए कि हमारे देश के खत्री बनिये अपने धर्म पुस्तक के लिए विद्या की आँख नहीं रखते। इस कारण उनको अन्धे की भांति दूसरे की अंधाधुन्ध तालीम नष्ट करती चली जाती है। जिस प्रकार एक अन्धा दूसरे अन्धे के अन्धा होने को नहीं जान सकता ऐसे ही ये मूर्ख लोग अनपढ़े ब्राह्मणों और साधुओं की मूर्खता और अशुद्ध तालीम को नहीं समझ सकते। इसलिए हर एक आदमी को हौंसला पैदा हो गया है कि वह जो चाहे शास्त्रों का नाम लेकर उनको समझावें।

प्यारे पाठकगण ! यद्यपि शास्त्रों और पूर्वजों में इनकी श्रद्धा गर्व योग्य है लेकिन ज्ञान की कमी से हानिकारक हो रही है, अगर ये मनुष्य वेद विद्या की कुछ तालीम पाकर कुछ विचारते और उस पर इसी श्रद्धा से आचरण करते जैसा कि आजकल करते हैं तो जरूर मोक्ष पद के भागी होते लेकिन अफसोस तो यह है कि ये धर्म सभा के लोग ऐसे खुदगरज हो रहे हैं कि अपने कायदों की आप जड़ काटते हैं। कहते यह हैं कि वर्ण उत्पत्ति से है और

आर्यसमाज मे दिन-रात इस बात पर झगड़ा करते हैं कि गुण-कर्म से वर्ण नहीं, बल्कि वीर्य से है। लेकिन वास्तविकता बिल्कुल विपरीत है इनकी सभा के बड़े-बड़े उपदेशक बढ़ई, रोड़े इत्यादि जातियों के हैं; कोई तो सागर संन्यासी बन गया है और कोई उदासी, कोई निर्मला। गरजे कि लोगों ने साधुओं का भेष बदल लिया है। अब जरा से भेष से तो उनका वर्ण बदल गया कि अब उनके धर्म सभा के ब्राह्मण तक स्वामीजी महाराज कहते और उसकी इज्जत मिस्ल अपने गुरु-संन्यासियों के करते हैं और यह ख्याल नहीं करते कि वह वीर्य से बढ़ई हैं या शुद्र हैं, उनको वर्ण से कोई गरज नहीं; सिर्फ भेष से गरज है।

प्यारे पाठकगण! अपनी गलत समझ से सभी सभासद सनातन धर्म सभा अमल वही करते हैं जो आर्यसमाज के अनुसार है लेकिन जबानी तौर पर दिन-रात स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे धर्मात्मा, नरोपकारी को, जिसने वैदिक धर्मियों की काया पलट दी, जो वैदिक धर्मी मुसलमान और ईसाई उनके मुकाबिले में बहस करने में घबरा रहे हैं। पहले हिन्दू लोग दिन-रात मसलमान ईसाई हो रहे थे। अब बहुत ही कम लोग हैं जो धर्म समझकर वापिस आ रहे हैं। कई हजार आदमी वापिस आ चुका है। यह सनातन धर्म के पण्डित जानते हैं कि स्वामी दयानन्द के सिद्धान्त बिलकुल वेद के अनुकूल हैं और उसने ऋषियों की राय के विरुद्ध कुछ नुक्सान नहीं हो सकता। लेकिन अपने रोजगार की हानि समझकर ऐसे अधर्म और कृतघ्नता को कर रहे हैं। परमेश्वर! इस महारात्रि को मिटाकर हमारे भाइयों को बुद्धि दे जिससे वे सनातन वैदिक धर्म को ग्रहण करके उसका प्रचार करें।

डाकू

प्यारे आर्यवर्त्त के रहने वालो! आजकल आर्यवर्त्त के चारों ओर यह धूम मची हुई है कि अमुक मनुष्य को मारकर इतना धन लूट ले गये। प्रत्येक

मनुष्य के मुख से डाकू शब्द सुना जाता है; परन्तु बहुत थोड़े मनुष्य हैं जो इस शब्द के वास्तविक अर्थ को जानते हैं।

प्रिय पाठकगण! डाकू की शिक्षा यह है कि वह सर्वदा धनोपार्जन करना अपने जीवन का उद्देश्य समझता है, वह जहां पर कोई राजकीय कर्मचारी देखता है अथवा कोईऔर शास्त्रास्त्र से सुसज्जित शक्ति सन्मुख आता है वहां से तुरन्त हट जाता है। उसे जहां कष्ट की सम्भावना हो और धन मिलता हुआ न दीखे वहाँ वह भूलकर भी नहीं जाता। उसकी दृष्टि में समस्त नष्ट हों अथवा प्रसन्न रहें; कुछ बात नहीं। उसका उद्देश्य तो येन-केन प्रकारेण आनन्द को प्राप्त करना तथा अपनी कीर्ति फैलाना है।

प्रिय पाठकगण! डाकू शब्द संस्कृत भाषा के दस्यु शब्द का अपभ्रंश जान पड़ता है, जिसका अर्थ यह है कि अपनी शक्ति से दूसरों का धन छीनकर खाना और स्वयं पैदा करने का यत्न न करना। जब विचार किया जाता है तो शक्ति चार प्रकार की है :— शस्त्र बल, विद्याबल, बुद्धिबल और अनुभव बल। हां पांचवां धन का बल और है। इन्हीं पांच शक्तियों द्वारा मनुष्य दूसरों के माल को प्राप्त करके आप लाभ उठाता है। परन्तु आजकल शस्त्र के बल से जो किसी का धन हरण करता है उसी को डाकू कहते हैं, अन्य को नहीं। यह स्पष्टतया पक्षपात और अन्याय है। मैं जहां तक देखता हूं लट्ठ का बल सबसे हीन है। उदाहरणार्थ—

एक कृषक ने अपने सम्पूर्ण वर्ष के परिश्रम से दो सौ मन अन्न उत्पन्न किया। इसमें से लगभग एक तिहाई तो गवर्नमेण्ट और जमींदारों ने छीन लिया, बहुत सा भाग बोहरे ने ब्याज में किस्तों से ले लिया, बहुत-सा मुकदमेबाजी में वकील साहब और न्यायालय के डाकू अर्थात् घूंसखोरों ने उड़ा लिया और बहुत सा दुकानदारों ने वस्तुओं के मुनाफे के रूप में अर्थात् एक रुपए के पदार्थ का डेढ़ रुपया ऐंठ लिया। इसी प्रकार लुटते लुटाते दो सौ मन अन्न में से २५ मन अन्न बचा, अब बताइये तो सही वह दीन क्या तो आप खावे, क्या बैलों को खवावे, काहे से कुटुम्ब का पालन करे और क्या बचावे जिससे कि दुर्भिक्ष के लिए भोजन, पशुओं के मरने का व्यय तथा

विवाह और मृत्यु में जो धन की आवश्यकता होती है उसे पूर्ण कर सकें ऐसी दशा में जब वह लाचार हो जाता है और देखता है कि और प्रकार की शक्ति वाले तो आनन्द और चैन से धन लूटते और मौज करते हैं और मैं अनादर और उपेक्षा की नदी में डूब रहा हूं। उस समय वह यही सोचता है कि अन्य मनुष्य तो अपनी शक्तियों को प्रयोग में लाते हैं; केवल मैं ही अपनी शक्तियों को निकम्मा खो रहा हूं। ऐसे विचारकर और अपनी विपत्ति को सन्मुख रखकर (मरता क्या न मरता) इस कथन के अनुसार जो कुछ उससे बन पड़ता है कर डालता है यद्यपि गवर्नमेंट का भय उसे धमकी देता है।

परन्तु जब गवर्नमेंट के भय से अन्य शक्तियों वाले नहीं डरते तो फिर मुझे क्या भय है वह ऐसा सोचता है, वह देखता है कि वकील न्यायालय में सरासर झूठे मुकदमें लेते हैं परन्तु उनको अपनी बुद्धि के लट्ठ से सत्य कर दिखाते हैं, जिसके कारण सैकड़ों दीन घर से बिना घर के होजाते हैं और धनी उनके रक्त से आनन्द करते हैं, वह सोचता है कि क्या कारण कि यह तो न्यायालय में बैठे लूटते हैं और फिर भी कोई इन्हें नहीं पूछता ? फिर विचार करता है कि इन के साथ तो गवर्नमेंट का भाग है क्योंकि यदि ५) सैकड़ा वकील साहब को दिया जाता है तो साथ ही ७॥) सैकड़ा की कोर्ट फीस (शुल्क न्यायालय) गवर्नमेंट भी तो ले लेती है, इसके अतिरिक्त छोटी दरख्वास्तों पर जो टिकट लगाये जाते हैं वह सब मिलाकर १०) सैकड़ा से थोड़ा ही न्यून है, मानों उन दीनों के नाश करने में जो धन प्राप्त होता है उसमें से ॥) गवर्नमेंट का और ॥) वकीलों का है, सुतराम वह समझ जाता है कि उन्हें गवर्नमेंट से डरने का कोई कारण नहीं ? फिर वह देखता है कि पुलिस और न्यायालय के छोटे-छोटे कर्मचारी सरकारी नौकर होते हुए भी निश-दिन घूंस खा रहे हैं, उनको भी गवर्नमेंट से कोई भय नहीं ? क्यों, यह देखता है कि पुलिस तो गवर्नमेंट के भय का बड़ा भारी साधन है और यह बहुत से मनुष्यों को नष्ट भी करदे तो भी कोई नहीं पूछ सकता। क्योंकि सरकारी कर्मचारी तो अन्तर्यामी नहीं और पुलिस के अधिकार इतने बढ़े
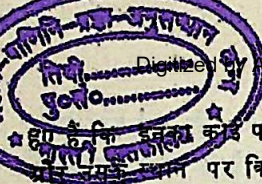
हुए हैं कि इनका कोई पारावार नहीं। एक खूनी (हत्यारे) को छोड़ देना और उसके स्थान पर किसी निर्दोष सभ्य को जिससे शत्रुता हो मिथ्या दोष लगा कर फांसी दिला देना तो यह अपने बायें हाथ का कार्य समझते हैं! और एक सभ्य मनुष्य का मान भंग कर देना अथवा उस के धन तथा जीवन को खतरे में डाल देना तो साधारण कार्य है। भला फिर किस के बुरे दिन आये हैं जो इनकी करतूतों को राजकीय कर्मचारियों के समक्ष में उपस्थित करे, अथवा किस को अपना जीवन भार प्रतीत होता है कि जो इन यमदूतों से विरोध सर्वदा के लिए उत्पन्न करे और अपने धन और जीवन को एक भयानक अवस्था में डाल देवे। अतः पुलिस को गवर्नमेंट से भय रखने का कोई कारण नहीं, रहे न्यायालय के कर्मचारी, सो यह तो राजकीय कर्मचारियों के बल में हैं। भला इन से शत्रुता कर के भी कहीं न्याय की आशा हो सकती है। इसलिए उनकी बात भी अधिकतर छिपी रहती है, इस कारण इनके न डरने का अचंभा करना बड़ी भारी भूल है, वह देखता है कि धनी (साहूकार) किस्तों के द्वारा वर्ष भर में १००) के १०५) लेते हैं और गुमास्ते बहुधा झूठे कागज बनाते हैं, भला फिर यह राज्य से क्यों नहीं डरते ? फिर सोचता है कि यह भी गवर्नमेंट को अपनी आय पर कर देते हैं और मुकदमेबाजी द्वारा भी गवर्नमेंट के कोष को भरने की कल भी तो यही है, यदि यह झूठे कागज न बनावें और सौ देकर दो सौ न लिखें तो मुकदमेबाजी चले कैसे और यदि मुकदमेबाजी न चले तो गवर्नमेंट का कोष कैसे भरे ? इसके पीछे वह बाजार के दुकानदारों की ओर ध्यान देता है, और कहता है कि यह तो गवर्नमेंट से सम्बन्ध नहीं रखते फिर किस प्रकार छोटे-बड़े नापने के गज और लने-देने के पृथक्-पृथक् बांट रख सकते हैं, क्या कारण कि इनके हृदय में गवर्नमेंट का तनिक भी भय नहीं, जब तनिक विचारपूर्वक देखता है तो समझ लेता है कि प्रथम तो चुंगी की आमदनी का बड़ा भारी (साधन) यह लोग हैं, दूसरे रेल की आमदनी अधिकतर इन्हीं के काम पर निर्भर है, तीसरे विलायत के व्यवसाय का बड़ा भारी कारण यही मनुष्य हैं।

यदि यह न हों तो कैसे हो सकता है कि भारत की रुई तीन सेर की विलायत को जा रही है और उसके बदले में रुपये की १ छटांक मलमल आती है, जिसका यह आशय है कि एक रुपये की रुई के ४८) विलायत वालों को पहुंच जावें और इस पर भी इन दुकानदारों का लाभ अलग रहा, और फिर यह भी तो गवर्नमेंट को आमदनी पर 'कर' देते हैं; भला जब प्रत्येक अवस्था में ये लोग गवर्नमेंट और उसके देशवासियों को लाभ पहुंचाते हैं तो फिर दीन कृषकों के लूटने से इन्हें क्या भय हो सकता है। अब रहे जमींदार, सो तो अपनी आय में से ५८) सैंकड़ा राज्य को देते हैं, वह जितनी आमदनी बढ़ावेंगे उतना ही गवर्नमेंट को लाभ होगा, भला इन्हें तब क्या भय हो सकता है। अब वह अपने विषय में विचार करना आरम्भ करता है कि मेरी शक्ति का गवर्नमेंट के साथ कोई सीधा सम्बध नहीं और मुझ से सीधा गवर्नमेंट को कोई लाभ नहीं पहुंचता, सुतराम् गवर्नमेंट लट्ठ के बल से छीनने वालों को दण्ड देती है, और अन्य शक्तियों से कोई चाहे समस्त संसार को लूट खाय। गवर्नमेंट तनिक भी बीच में नहीं बोलती, फिर सोचता है कि गवर्नमेंट भी तो सजाति है, वह भी तो लट्ठ के आसरे ही है, वह विचारता हैकि क्या कारण हैकि गवर्नमेंट हमारी व्यवसाय सहयोगी होकर हमें नष्ट करना चाहती है फिर समझता है कि संसार में मनुष्य अपने हम पेशे को देख कर यह सोचते हैं कि इस के कारण हमारे व्यवसाय में हानि पहुंचेगी, कदाचित् इसी प्रकार हमारे लट्ठ के बल को देख कर गवर्नमेंट को भी सूझा है।

प्रिय पाठकगण! एक समझदार डाकू, जिसके विचार मैं ऊपर लिख चुका हूं। एक समय किसी जगह जा रहा था, मार्ग में उसकी एक साहूकार, एक वकील, एक जमींदार और एक दुकानदार से भेंट हो गई। डाकू ने प्रत्येक से उसका हाल और पेशा पूछा, जब प्रत्येक ने अपना अपना पेशा और हाल बता दिया तो उन्होंने डाकू से उसका पेशा और हाल पूछा, डाकू ने सम्पूर्ण हाल कह सुनाया और कहा— भ्राताजी! हम और तुम सब एक काम के करने वाले हैं, यद्यपि हमारे तुम्हारे काम करने के साधन भिन्न-

भिन्न प्रकार के हैं परन्तु बुद्धि जान सकती है कि हमारे तुम्हारे जीवन का एक ही उद्देश्य है अर्थात् दूसरों की कमाई से धन प्राप्त करना और उससे आनन्द भोगना, इसलिये मैं प्रार्थी हूं, कि हम सब को उचित है कि मिलकर रहें और दूसरे साथियों में मेरे आदर को बढ़ाया जावे।
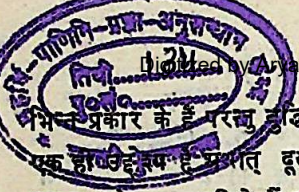
प्रिय पाठकगण ! डाकू की इस बात को सुनकर सेठ जी मारे क्रोध के अंगारा हो गये और घबरा कर कहा :—

सेठ०—क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती कि तुम नित्य प्रति सैकड़ों दीनों का गला काटते हो और उनके घरों की वस्तुओं को लूटते हो, उनको सुख देकर लाभ नहीं उठाते वरन् सर्वदा नष्ट करने का प्रयत्न करते हो, और फिर हमारी समानता का दावा करते हो तथा हमें अपना हम पेशा समझते हो, इस से तुम्हारी मूर्खता का परिचय मिलता है, क्या हमने भी तुम्हारे भांति किसी को नष्ट किया है ?

डाकू—महाशय ! क्षमा कीजिये, मैंने भूल की, क्योंकि आप हमारे हम पेशा नहीं वरन् सर्दार हैं, हम धनवानों को लूटते हैं और आप दीनों का लोहू पीते हैं। हमने आजतक किसी का घर नीलाम नहीं कराया और न जमीन बिकवाई, ताजा ताजा माल जो धनाढ्यों से मिला छीन लिया। हम में यह शक्ति नही कि घर-जमीन छीन सकें, यह आप ही से हो सकता है।

सेठ—हम किसी को लूटते नहीं वरन् पहिले अपने रुपये को जोखम में डालते हैं, फिर कुछ ब्याज लेते हैं, जिसको आवश्यकता होती है ले जाता है।

डाकू—सेठ जी ! आप तो रुपये को जोखम में डालते हैं, परन्तु हम आप से बढ़ कर अपने प्राणों को जोखम में डालते हैं।

सेठ—भाई ! हमारे रुपये तो बहुधा मारे जाते हैं और १००) में १०) तो अवश्य ही मारे जाते हैं, फिर सरकार का खर्च, मुकदमे का खर्च; सब हम को ही देना पड़ता है बहुधा न्यायालय के छोटे-छोटे कर्मचारियों को भेंट होती है।

डाकू—सेठजी ! आप क्या कहते हैं ! यहां तो पचास से अधिक जीव

जाते हैं और फिर भी सफलता नहीं होती।

सेठ—तुम तो सहस्रों मनुष्यों के निरपराध प्राण लेते हो, तुम से देश को बड़ी भारी हानि पहुचती है। हमसे देश का मान और लाभ होता है। भला फिर हम और तुम किस प्रकार समान हैं।

डाकू—आप तनिक सोचकर बात कहें। क्या बहुत से मनुष्य ब्याज से घबडा कर आत्म-घात नहीं कर लेते, ठगा तो हम तुम दोनों करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि तुम इतना दुःख देते हो कि वे दीन दुखित होकर प्राण देने पर स्वयं उतारू हो जाते हैं और हम विना दुखाये स्वयं मार डालते हैं। रहा आप से देश का गौरव और लाभ। यह दोनों झूठ हैं। क्योंकि यदि देश को कभी किसी के अत्याचार से बचाया है तो हमीं ने बचाया। देखो शिवाजी और रणजीतसिंह आदि ने पहिले शत्रुओं पर डाके मारे तत्पश्चात् उनको जीत लिया। मानों शाही छोटे हमले का नाम डाका और बड़े का नाम बादशाही हमला (राजकीय आक्रमण) है। देखो हजरत मुहम्मद ने भी प्रथम विपक्षियों को इसी भांति जय किया और अन्त में बली होकर अरबदेश को लाभ पहुंचाया। वह किसी से छिपा हुआ नहीं है। नादिरशाह ने भी यही से बादशाही प्राप्त की। महाशय! हमारी जाति से तो देश को लाभ ही है, महानुभाव! हम अपने देश का धन किसी दूसरे देश को नहीं पहुंचाते वरन् धनी और बलवानों से छीन कर दीनों और निर्बलों को देते हैं।

वकील—यह सुन कर वकील साहब बोल उठे। तुम दोनों मूर्ख हो, तुमसे कभी देश और जाति को लाभ नहीं पहुंच सकता; जितने शिक्षित और स्वतन्त्रोपजीवी मनुष्य बढ़ते जायेंगे उतना ही देश को लाभ होगा।

डाकू—सत्य है! श्रीमान से अवश्य ही देश को लाभ पहुंचता है क्योंकि प्रथम तो ७॥) सैंकड़ा कोर्ट फीस और लगभग २॥) सैंकड़ा तलबाना आदि गवर्नमेंट को दिये जाते हैं। पीछे ५) सैंकडा स्वयं श्रीमान् को मिलते हैं। मानो जब देश को १५) की हानि पहुंच लेती है तब श्रीमान् को ५) प्राप्त होते हैं। अब आप विचारिये कि यदि श्रीमान् १०००) मासिम

कमाते हैं तो देश को ...००) वार्षिक की हानि पहुंचती है।

वकील—तुम्हारी यह बात सर्वथा असत्य है। हम कभी गवर्नमेंट को रुपये नहीं दिलाते वरन् प्रथम लोग मुकदमा दायर करते हैं और फिर हमारे पास आते हैं। हम किसी के घर पर जाकर नहीं कहते कि मुकदमा लड़ाओं वरन् उलटे पापी अभियुक्तों को मुक्त कर उन्हें यातनाओं से छुड़ाते हैं। देखो हम इतना धन व्यय करते हैं। श्रम करके विलायत जाकर बैरिस्टरी की परीक्षा देते हैं। हमारा यह सब परिश्रम देश के हितार्थ है।

डाकू—बाबू जी; आप के न्याय की बलिहारी। यथार्थ में आप विलायत जाकर श्रम करके देश का बड़ा हित करते हैं। प्रथम जब आप विलायत जाते हैं तो देश का १५०००) तो पहिलें पहिल भेंट करते हैं और देश की रीति भांति को नमस्कार कर देश को दूसरा लाभ पहुंचाते हैं और यहाँ लौट कर धर्म-कर्म से पृथक् होकर देश को तीसरा लाभ पहुंचाते हैं और देश में मुकदमे बाजी बढ़ा कर और घर में फूट डलवा कर देश को चौथा लाभ पहुंचाते हैं और पीछे देश के धन से विलायत की वस्तु खरीद कर और उनसे ड्राइंगरूम सजा कर देश को नष्ट करके पाँचवां लाभ पहुंचाते हैं।

वकील—तू मूर्ख मनुष्य! बुद्धि शून्य। नहीं समझ सकता कि देश का हित बिना स्वतन्त्रता के नहीं हो सकता और हम लोग देश को स्वतन्त्र कराते हैं। भारतवर्ष जो जाति, पांत और धर्म के बन्धन में पड़कर नष्ट हो गया था, हम उसको छुड़ा कर उन्नति पर लाने का प्रयत्न करते हैं।

डाकू—बाबू जी! देश की उन्नति किस चिड़िया का नाम है और वह कितने पर का पक्षी है। क्या आप इस बात को जानते हैं। आप सोच कर देखें; पक्षपात को छोड़ें। बाबू जी देश की उन्नति का यह अर्थ है कि देश का धन बढ़े, देश की विद्या बढ़े, देश की भाषा और रीति सब प्रकार सुधार पर रह कर देश के लिए उपयोगी सिद्ध हों। देश का बल बढ़े, मैं तो आपसे किसी पदार्थ की उन्नति नहीं देखता। देश, भाषा और रीति भांति के तो आप पूर्ण शत्रु हैं और देश का धन सर्वदा आप से हानि ही को प्राप्त होता है और देश का बल तो केवल हम लोगों के ही आधार पर है, अथवा आप लोगों के आधार पर है। आप लोगों में तो बल का नाम भी नहीं।

वकील—हम लोग स्पष्ट रीति से अपना काम करते हैं। समस्त देश के लोग और गवर्नमेंट हमारा दर्द करती है और तुम लोग सर्वदा छिपे रहते हो। समस्त देश और गवर्नमेंट तुम्हारी शत्रु, फिर तुम कैसे कह सकते हो कि तुम से देश को लाभ पहुंचाता है और हम से हानि।

डाकू—साहिब, जो मैंने ऊपर कहा था कि आप से देश का किसी प्रकार का बल अर्थात आर्थिक, शारीरिक एवं विद्या सम्बंधी लाभ नहीं बढ़ता इस का तो आपने उत्तर नहीं दिया और यह जो आपने कहा कि 'गवर्नमेंट हमारा सन्मान करती है' इसका कारण यह है कि तुम देश को हानि तथा गवर्नमेंट को लाभ पहुंचाते हो! रहा यह कि लोग आपका आदर करते हैं सो वही जो आपको वास्तविक रूप में नहीं जानते; आपकी प्रशंसा करते हैं।

वकील—खैर, हमसे किसी का काम निकलता है, किसी से हमको लाभ पहुंचता है, यह तो आप मान चुके। परन्तु आप से किस को लाभ पहुंचता है। ऐसा तो कोई नहीं जिससे प्रत्येक मनुष्य प्रसन्न रहे।

डाकू—महानुभाव! पहिला दावा तो श्रीमान् का मिथ्या ठहरा कि हम से देश को लाभ पहुंचाता है'। प्रश्न यह था कि देश को किस से लाभ पहुंचता है और किससे हानि। देश को हानि और गवर्नमेंट को लाभ पहुंचाना आपने मान लिया और सर्वसाधारण को हानि तथा जो काम वाला आपको रुपया दे उसको लाभ पहुंचाना भी आपको मानना ही पड़ा। सुतराम् आपसे आपको लाभ पहुंचता है कि गवर्नमेंट को, देश को तो हानि ही पहुंचती है।

वकील—तुम्हारी व्यर्थ की बातों से क्या होता है। जब तुम्हारा काम पड़ता है तब तुम भी तो आकर हाथ जोड़ा करते हो। इस समय तुम चाहो जितनी बातें बनाओ परन्तु अन्त में—

डाकू—सत्य है, बाबू जी, सत्य अवश्य कड़वी लगती है, और काम पड़े पर तो हम स्वपक्ष की भी विनय करते हैं परन्तु बात तो जब है कि कोई बिना प्रयोजन प्रशंसा करे, जिस प्रकार हम लोग औरों को रुपया दे कर

उनसे काम ले लेते हैं। इसी प्रकार से तुम से, क्या हमने तुम्हारे बुलाने के लिए दलाल नियत किये हैं, अथवा आदर्शपट लगाया है जिससे कि हमा उद्देश्य सिद्ध हो। इसके अतिरिक्त जब आप नहीं थे तब भी हमारा का चलता था। परन्तु यदि हम लोग अर्थात मुकदमें वाले न हों तो तुम्हारा का चल ही नहीं सकता। बस, तुम्हारे अन्नदाता और पोषक न हों तो क्या हो तुमको हमसे प्रयोजन है, हमें तुमसे कोई नहीं।

प्रिय पाठकगण ! डाकू की यह बातें सुन कर वकील साहब तो यह कह कर कि ऐसे मूर्ख से कौन शिर मारे चुप हो गये परन्तु जमींदार बोल उठा।

जमींदार—अरे समझ कर बात नहीं करता, हमारी और तेरी समानता ही क्या ?

डाकू—सत्य है मेरी और आपकी समानता ही क्या ? मैं धनवानों को लूटता हूं और तुम दीन कृषकों का खून चूसते हो।

जमींदार—अरे; हमने तो उन्हें धरती दी है, उनका पोषण करते हैं न कि उनका खून चूसते हैं।

डाकू—तुम उनका क्या पोषण करते हो, वरन वह तुम्हारा पोषण करते हैं, वे नित्य प्रति श्रम करके खेत जोतते, कुएं चलाते, बीज डालते। सारां यह कि सर्व प्रकार के परिश्रम से कमाते हैं और तुम बैठे मौज उड़ाते हो फिर डाकू ने दूकानदार से कहा कि कहो भाई मैं सत्य कहता हूं कि नहीं।

दुकानदार—कैसे माना जावे कि सत्य कहता है, देखो, हम रुपये माल देकर एक आने का लाभ उठाते हैं, और तू मुफ्त में उड़ाता है।

डाकू—तुम तो देश का बहुत सा धन अपने थोड़े से हित के लिए विदे को पहुंचा देते हो, मानो हम तो अपनी आवश्यकतानुसार दूसरों से लेते परन्तु तुम सोचो कि यदि तुमको दस का लाभ होता है तो भारतवासि को न्यून से न्यून तीन सौ की हानि होती है, फिर बताओ कि हम तु किस प्रकार बुरे हैं, जब कि हम से देश की कोई हानि नहीं, केवल धनवा से छीन कर निर्धनों को देते हैं और तुम धनी और दीन सबों से ले विदेशियों को लाभ पहुंचाते हो, (यह सुनकर) दुकानदार आदि ने कि अच्छा आज तो जाते हैं, फिर किसी दिन विवाद करेंगे।